नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 129 • वर्ष 11 अंक 5
जून 2009 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

यूपीए सरकार का नया एजेण्डा

अब बेरोकटोक लागू होंगी पूँजीवादी विकास की नीतियाँ

जनता के गुस्से की आँच पर पानी के छींटे डालते हुए

देशी-विदेशी पूँजीपतियों की लूट को और मुकम्मल बनाने की तैयारी

सम्पादक मण्डल

कांग्रेस के नेतृत्व में यूपीए गठबन्धन की जीत से देश के सारे पूँजीपति खुशी से फूले नहीं समा रहे हैं। शेयर बाज़ार का पारा चढ़ता जा रहा है। देश-विदेश का पूँजीवादी मीडिया बधाइयाँ गाते थक नहीं रहा है। उनके खुश होने की वजह ज़ाहिर है। आख़िर कांग्रेस भारतीय पूँजीपति वर्ग की सबसे पुरानी भरोसेमन्द पार्टी है। आज के दौर में बुर्जुआ वर्ग की मैनेजिंग कमेटी का काम इससे अच्छी तरह कौन-सी पार्टी कर सकती है! देशी-विदेशी पूँजीपतियों के सभी प्रवक्ता लगातार कह रहे हैं कि अब नयी सरकार को आर्थिक "सुधारों" की गति को ज़्यादा तेज़ी से आगे बढ़ाना चाहिए।

सत्ता में आने के साथ ही कांग्रेस ने बता दिया है कि पूँजीवादी आर्थिक विकास की दीर्घकालिक नीतियों को वह अब ज़्यादा सधे कदमों से लागू करेगी। संसदीय वामपंथियों की बैसाखी की अब उसे ज़रूरत नहीं है। ये संसदीय बातबहादुर पूँजीवादी व्यवस्था के दूरगामी हित में सरकारी नीतियों में सन्तुलन बनाने के लिए जो कुछ किया करते थे उसके लिए भी अब उनकी ज़रूरत नहीं रह गयी है। अब यह सरकार खुद ही तथाकथित सामाजिक कल्याणकारी नुस्खों को लागू करने जा रही है। राष्ट्रपति के अभिभाषण में नरेगा को मज़बूत करने, शहरों से पाँच साल में झुग्गियाँ ख़त्म करने, ग़रीबों को तीन रुपये किलो चावल देने से लेकर शिक्षा और स्वास्थ्य को लेकर कई योजनाओं की घोषणा कर दी गयी है। लेकिन ये लोकलुभावन योजनाएँ तो मुखौटा हैं। इस सरकार का असली एजेण्डा है देशी-विदेशी पूँजीपतियों को जनता को लूटने की खुली छूट देना। राष्ट्रपति के इसी अभिभाषण में सरकारी कम्पनियों के विनिवेश से लेकर वित्तीय क्षेत्र के सुधारों के नाम पर उसे विदेशी बड़ी पूँजी के लिए खोलने से लेकर कई घोषणाएँ की गयी हैं। जुलाई में पेश किये जाने वाले बजट में पूँजीपतियों को फायदा पहुँचाने वाले आर्थिक "सुधारों" की ठोस योजनाएँ पेश करने की तैयारी चल रही है। सुधारों की कड़वी घुट्टी जनता के गले के नीचे उतारने के लिए भी ज़रूरी है कि उसे ढेरों लोकलुभावन योजनाओं की चाशनी में लपेटकर पेश किया जाये।

नयी सरकार के गठन को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि नयी नीतियों की दिशा क्या होगी। देशी पूँजीपतियों के ही नहीं साम्राज्यवादी सरकारों और विश्व बैंक-आईएमएफ़ जैसी संस्थाओं के वफ़ादार सेवक मनमोहन सिंह से लेकर मोंटेक सिंह अहलूवालिया, चिदम्बरम, प्रणव मुखर्जी आदि पूरी टीम देशी-विदेशी पूँजीपतियों के सबसे विश्वस्त सेवकों की टीम है। साम्राज्यवाद के एक पुराने टहलुए शशि थरूर का वाशिंगटन से आकर सीधे सरकार में मंत्री बनना भी यही संकेत दे रहा है।

दरअसल "आम आदमी" के लिए की गयी तमाम घोषणाओं का मकसद यही है कि नवउदारवादी पूँजीवादी नीतियों के आगे बढ़ने से पैदा होने वाले सामाजिक असन्तोष को कम किया जाये। साथ ही, इन कीन्सियाई नुस्खों को फिर से लागू करना भारत सहित विश्व पूँजी की ज़रूरत भी है। पूरी दुनिया में छायी आर्थिक मन्दी से सबक लेकर चीन, जापान और ब्राज़ील सहित कई देशों की सरकारों ने ऐसे नुस्खे आज़माये हैं। सरकार और पूँजीपति वर्ग के विचारक अच्छी तरह समझ रहे हैं कि अगर नवउदारवादी नीतियों को बेरोकटोक लागू होने दिया गया तो इनके कारण पैदा होने वाली मेहनतकशों की तबाही-बदहाली से जो आक्रोश पैदा होगा वह इस व्यवस्था को ही मुसीबत में डाल सकता है। ये विचारक पूँजीपतियों को लगातार सलाह दे रहे हैं कि मेहनतकशों को इस कदर न निचोड़ो कि उनके पास लूटने के लिए कुछ रह ही नहीं जाये। जब समाज की भारी आबादी ग़रीबी में डूब जाती है और उनके पास बाज़ार से ख़रीदने की कुव्वत ही नहीं रह जाती है तो पूँजीवादी व्यवस्था संकटग्रस्त हो जाती है। इस स्थिति से सबक लेते हुए सरकार ने ऐसी नीतियाँ लागू करने का फैसला किया है जिनसे ग़रीबों की क्रयशक्ति थोड़ी बढ़े और साथ ही उनके असन्तोष की आँच पर पानी के छींटे भी डाले जा सकें। जैसाकि हम 'बिगुल' के पिछले अंकों में लिखते रहे हैं, नरेगा लागू करने के पीछे एक अहम मकसद

पूँजीवादी लोकतंत्र में "बहुमत" की असलियत

महज़ 12 प्रतिशत लोगों के प्रतिनिधि हैं देश के नये सांसद

कार्यालय संवाददाता

बार-बार यह साबित हो चुका है कि पूंजीवादी जनतंत्र, पूंजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के सिवाय कुछ नहीं होता। इसमें हर पाँच साल बाद लोकतंत्र का फूहड़-नंगा खेल खेला जाता है, जिसमें यह फैसला होता है कि अगले पाँच साल तक मेहनतकश जनता के शोषण का अधिकार किस दल को मिलेगा और कौन-सा दल मालिकों के हित में तमाम नीतियों-काले कानूनों को लागू करेगा। उस पर तुर्रा यह कि इसे अल्पमत पर बहुमत के शासन के रूप में प्रचारित किया जाता है। लेकिन वास्तव में, यह बहुमत पर अल्पमत का शासन होता है और पूँजीपति और उनके पत्तलचाटू बुद्धिजीवी, अखबार, नेता-अभिनेता हमारे इसी "महान लोकतंत्र" की दुहाई देते नहीं थकते।

मतदाताओं को वोट देने के लिए मनाने के तमाम प्रचार के बावजूद देश के आम चुनावों में वोटों का प्रतिशत बढ़ना तो दूर कम ही हो रहा है। इस बार कुल लगभग 59 प्रतिशत मतदाताओं ने वोट डाला। वोट किस तरह पड़ते हैं इसे बताने की ज़रूरत नहीं।

ख़ैर, इस बार चुनाव जीत कर संसदीय सुअरबाड़े में पहुँचने वाले सांसदों को औसतन 25.7 प्रतिशत वोट ही मिले, जबकि 1997 में यह प्रतिशत 35.7 था। अब प्रतिशत के बजाय संख्या पर गौर किया जाए, तो देश की करीब 115 करोड़ आबादी में से 71 करोड़ यानी करीब 61 प्रतिशत लोग ही मतदाता हैं। ऐसा नहीं है कि बाकी के 54 करोड़ की आबादी में सभी 18 वर्ष से कम उम्र के हैं। इनमें से कई करोड़ आबादी मेहनतकश जनता के सबसे निचले तबकों की है जिनके पास रहने का कोई स्थायी ठिकाना ही नहीं है तो मतदाता कार्ड कैसे बनेगा। शहरों में रहने वाले करोड़ों मजदूरों तक के कार्ड नहीं बन पाते हैं। इन 71 करोड़ में मतदाताओं में से करीब 42 करोड़ ने इस बार मतदान किया। इन 42 करोड़ में भी केवल 25.7 प्रतिशत मतदाताओं यानी लगभग 10.7 करोड़ के वोट ही जीतने वाले सांसदों को मिले। यानी ये सांसद देश की जनता की कुल आबादी के लगभग 12.3 प्रतिशत के ही प्रतिनिधि हैं लेकिन जनता को बार-बार बताया जाता है कि लोकतंत्र का मतलब होता है बहुमत का शासन। जबकि असलियत यह है कि अगर इस पूँजीवादी चुनाव प्रणाली को ही पैमाना माना जाये तो बहुमत ऐसे लोगों का होता है जो चुनाव जीतने वालों के ख़िलाफ़ थे। इस बार के आम चुनावों में वोटों का प्रतिशत और गिर गया है। इस बार चुनाव जीतने वाले 145

(पेज 6 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

20 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करने वाले 84 करोड़ लोगों के देश में 300 सांसद करोड़पति – 4
स्विस बैंकों में जमा काली कमाई पूँजीवादी लूट के सागर में तैरते हिमखण्ड का ऊपरी सिरा भर है – 5
पूँजीपति आर्थिक संकट पर कार्ल मार्क्स – 6
फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें? – 7
कभी चैन की नींद नहीं सो सकेंगे चीन के पूँजीवादी पथगामी... – 9
नताशा – एक महिला बोल्शेविक संगठनकर्ता – पेज 10
नेपाली क्रान्ति किस ओर? नयी परिस्थितियाँ और पुराने सवाल – 11

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

जानवरों जैसा सलूक किया जाता है मज़दूरों के साथ

पिछले तीन बार से बिगुल पढ़ रहा हूँ। पहली बार यह मुझे नारा लगाकर भाषण देते और बिगुल बेच रहे कार्यकर्ताओं से मिला था। उनकी बातें सुनकर ही मैंने बिगुल ख़रीदा और मई दिवस का अंक पढ़कर सोच लिया था कि बिगुल को चिट्ठी लिखूँगा। बिगुल के उन कार्यकर्ताओं ने भी मुझे कहा था कि चिट्ठी लिखना। मैं मज़दूरों को रोज़-रोज़ जिस तरह अपमानित होना पड़ता है, उस पर लिखना चाहता हूँ, लेकिन पहले मैं अपने बारे में थोड़ा-सा बताता हूँ।

मैं नोएडा, यूपी की एक्सपोर्ट गारमेण्ट फ़ैक्टरी में काम करता हूँ। घर में खेती-बाड़ी से ख़र्चा न चल पाने की वजह से मैं 12वीं की पढ़ाई के बाद ही पिछले साल मई में बिहार के दरभंगा से नोएडा काम करने आया था। यहाँ आने से पहले सोचता था कि शहर में मेहनत-मजूरी करने वाले को गाँव की तरह अपमानित नहीं होना पड़ता होगा। सोचा था कि शहर में मज़दूरी करके कुछ पैसे बचाऊँगा और घर पर पैसा भेजकर माँ-बाबूजी की मदद करूँगा। इसलिए यहाँ आकर मैंने सेक्टर-8 की एक लॉज में कुछ लोगों के साथ मिलकर कमरा किराये पर लिया। जिस मंज़िल पर हमारा कमरा है वहाँ चार कमरे और हैं। दो में परिवार रहते हैं और दो कमरों में तीन-तीन लड़के मिलकर रहते हैं। कमरे का किराया 800 रुपया है। छोटे से उस कमरे में सीलन है और रोशनी नहीं आती। मकान मालिक एक गुज्जर है, जो उसकी लॉज में रहने वाले मज़दूरों को बिहारी कहकर बुलाता है, चाहे वे मध्यप्रदेश के हों, या उत्तर प्रदेश के, या बिहार के। उसके लिए हम सभी बिहारी हैं।

मुझे 2200 महीने की पगार मिलती है और 12-14 घण्टे तक काम करना पड़ता है। ओवरटाइम सिंगल रेट से देता है और एक भी छुट्टी नहीं मिलती। मैं काम से नहीं घबराता, लेकिन इतनी मेहनत से काम करने के बाद भी सुपरवाइजर माँ-बहन की गाली देता रहता है, ज़रा सी ग़लती पर गाली-गलौज करने लगता है, और अक्सर हाथ भी उठा देता है। मज़दूर लोग दूर गाँव से अपना और अपने परिवार का पेट पालने के लिए आये हैं, इसलिए नौकरी से निकाले जाने के डर से वे लोग कुछ नहीं बोलते। शुरू-शुरू में एक-दो फ़ैक्टरी में मैंने पलटकर जवाब दिया तो मुझे काम से निकाल दिया गया। यहाँ मेरा कोई जानने वाला नहीं है, इसलिए मेरे लिए काम करना बहुत ही ज़रूरी है। इसी बात पर मैं भी अब कुछ नहीं बोलता। लेकिन बुरा बहुत लगता है कि सुपरवाइज़र ही नहीं, मैनेजर, चौकीदार और ख़ुद मालिक लोग भी हमें जानवर से ज़्यादा कुछ नहीं समझते। कारख़ाने में घुसने के समय और काम खत्म करने के बाद बाहर लौटते समय गेट पर बैठे चौकीदार हम लोगों की तलाशी ऐसे लेते हैं, जैसे हम चोर हों। यही नहीं, हम लोगों को चाय पीने, बीड़ी पीने और यहाँ तक कि पेशाब करने के लिए नहीं जाने दिया जाता। बस लंच में ही समय मिलता है। उसके अलावा यदि ज़रूरत हो तो सुपरवाइज़र के आगे नाक रगड़नी पड़ती है। औरत मज़दूरों के साथ तो और भी बुरा बर्ताव होता है। गाली-गलौज, छेड़छाड़ तो आम बात है, जैसे वे औरत नहीं, उस फ़ैक्टरी का प्रोडक्ट हों। एक-दो औरत मज़दूरों ने विरोध किया और पलटकर गाली भी दी, तो उन्हें काम से निकाल दिया गया और बड़ा बेइज़्ज़त किया।

अभी मैं जिस फ़ैक्टरी में काम करता हूँ, उसका एक मोटा, गंजा, तोंदियल मालिक है, जिसे देखकर यही लगता है कि वह मज़दूरों का ख़ून चूस-चूसकर मोटा रहा है। एक बार कारख़ाने में घुसते समय उसकी गाड़ी के आगे-आगे चलने की वजह से उसने एक मज़दूर को बहुत मारा था, और उसके बाद पुलिस बुलाकर उसी मज़दूर पर चोरी का इल्जाम लगाकर थाना भिजवा दिया था। वहाँ पुलिसवालों ने भी उसे बहुत मारा था और उस कारख़ाने के आगे कभी न दिखने की धमकी दिये थे। उस मज़दूर का एक महीने की तनख्वाह और दो महीने का ओवरटाइम मालिक पर बाक़ी था। लेकिन वो उसे नहीं मिला। उस पर से उसके साथ ऐसा बर्ताव किया गया जैसे वह इन्सान नहीं जानवर हो।

हमारे कारख़ाने के मैनेजर से मिलने के लिए एक ट्रेडयूनियन का नेता भी अक्सर आता रहता है। बाक़ी मज़दूर बताते हैं कि वह मालिकों का दलाल है, एक बार हमारी फ़ैक्टरी की हड़ताल तुड़वाने में वह सबसे आगे रहा था। मज़दूर उस पर विश्वास करते थे, लेकिन अब उसके कुछ चमचों को छोड़कर कोई उस पर विश्वास नहीं करता।

कारख़ाने में ही नहीं, मज़दूर को तो हर जगह बेइज़्ज़त किया जाता है। एक दिन किराया देने में देरी होने पर लॉज का मालिक सीधे माँ-बहन की गाली देने लगता है, और किराने की दुकान के लाला का पैसा देने में देर हो जाये तो वह मारपीट तक कर देता है। हम लोग छुट्टी वाले दिन बस से घुमने के लिए कहीं जाते हैं, तो ड्राइवर-कण्डक्टर भी गाली देता है और बिहारी कहता है।

इस सब से गुस्सा आता है, लेकिन किसी के साथ की उम्मीद न होने की वजह से कुछ बोलते नहीं बनता। बस चुपचाप सहते रहते हैं। बिगुल को पढ़कर लगता है कि मज़दूर लोग बिखरे हुए हैं, इसलिए उनके साथ ऐसा होता है। मुझे यह लगने लगा है हम मज़दूर कहीं के भी हों, हमें इन्सान नहीं समझा जाता। इसलिए मजदूर लोगों को इकट्ठा होना चाहिए। नहीं तो मुझ जैसे सैकड़ों मज़दूर ऐसे ही अकेले घुटते रहेंगे और हमारी लॉज का गुज्जर मालिक तथा कारख़ाने का मालिक जैसे लोग हम लोगों को ऐसे ही बेइज़्ज़त करते रहेंगे। हमको इन्सान नहीं समझा जायेगा, बुनियादी अधिकारी मिलना तो दूर की बात है!

–राजेश
नोएडा

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हमारा प्रयास होगा कि बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक जल्दी ही वेबसाइट पर उपलब्ध करा दिये जायें।

वेबसाइट का पता :

http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी आप इसकी सामग्री पा सकते हैं और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं।

ब्लॉग का पता :

http://bigulakhbar.blogspot.com

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

बिगुल पुस्तिका शृंखला

- **कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा**/लेनिन 5.00
- **मकड़ा और मक्खी**/विल्हेल्म लीब्कनेख़्त 3.00
- **ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीक़े**/सेर्गेई रोस्तोवस्की 5.00
- **मई दिवस का इतिहास**/अलेक्ज़ैण्डर ट्रैक्टनबर्ग 6.00
- **पेरिस कम्यून की अमर कहानी** 10.00
- **अक्टूबर क्रान्ति की मशाल** 12.00
- **जंगलनामा : एक राजनीतिक समीक्षा**/डॉ. दर्शन खेड़ी 5.00
- **लाभकारी मूल्य, लागत मूल्य, मध्यम किसान और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण : एक बहस** 30.00
- **संशोधनवाद के बारे में** 5.00
- **शिकागो के शहीद मज़दूर नेताओं की कहानी**/हावर्ड फ़ास्ट 10.00
- **मज़दूर आन्दोलन में नयी शुरुआत के लिए** 15.00
- **बोलते आँकड़े चीख़ती सच्चाइयाँ** 3.00
- **चोर, भ्रष्ट विलासी नेताशाही** 3.00

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

प्रगतिशील, जनपक्षधर और उत्कृष्ट साहित्य का वाहक

जनचेतना

एक सांस्कृतिक मुहिम
एक वैचारिक प्रोजेक्ट
वैकल्पिक मीडिया का एक मॉडल

'जनचेतना' का सम्पूर्ण सूचीपत्र देखने और किताबों का ऑर्डर भेजने के लिए हमारे ब्लॉग पर जायें। ब्लॉग का पता :

http://janchetnaa.blogspot.com

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	:	69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उपकार्यालय	:	जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क	:	बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94 फोन : 011-65976788
ईमेल	:	bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
2. **जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)**
3. **जाफरा बाज़ार, गोरखपुर-273001**
4. **जनचेतना सचल स्टाल ;ठेलाद्ध चौड़ा मोड़, नोएडा ;शाम 5 से 8)**

बादली औद्योगिक क्षेत्र की हत्यारी फ़ैक्टरियाँ

बिगुल संवाददाता

पिछले महीने 2 मई को बादली औद्योगिक क्षेत्र के फ़ेस 1 की एस-59 स्थित फैक्ट्री में लोहे की पत्ती लगने से मुकेश नामक एक मज़दूर की दर्दनाक मौत हो गयी। फ़ैक्टरी के मालिक ने पुलिस-प्रशासन से मिलीभगत करके मामले की लीपापोती कर दी। जब 'नौजवान भारत सभा' तथा 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के कार्यकर्ताओं ने इस घटना के ख़िलाफ़ पर्चा निकालकर मज़दूरों के बीच प्रचार किया तो स्थानीय विधायक देवेन्द्र यादव के कार्यालय से धमकी भरे फ़ोन आने लगे।

28 मई को भी न्यू लाइन बिल्डकप प्राइवेट लिमिटेड, एस-99, फ़ेस 1, बादली औद्योगिक क्षेत्र में बिजली लगने से रामप्रसाद सिंह नामक मज़दूर की घटनास्थल पर ही मौत हो गयी तथा तीन अन्य मज़दूर झुलस गये। इस घटना में भी वही कहानी दुहरायी गयी, पुलिस-प्रशासन की मदद से मामले की लीपापोती कर दी गयी। इस घटना के ख़िलाफ़ भी जब 'नौजवान भारत सभा' तथा 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के कार्यकर्ता पर्चा वितरण कर मज़दूरों के बीच प्रचार कर रहे थे तो स्थानीय थाना समयपुर बादली का एक इंस्पेक्टर कार्यकर्ताओं को प्रचार करने से मना कर रहा था तथा 'क़ानून' समझा रहा था। जब उक्त संगठन के कार्यकर्ताओं ने पुलिस-प्रशासन के ख़िलाफ़ नारेबाज़ी शुरू कर दी तो पुलिसवाले ने तुरन्त गिरगिट की तरह रंग बदल लिया और कहने लगा कि वह तो सुरक्षा को ध्यान में रखकर यह बात कर रहा था।

बादली औद्योगिक क्षेत्र के ज़्यादातर कारख़ानों में लोहे/स्टील से सम्बन्धित फ़ैक्टरियाँ हैं। ज़्यादातर फ़ैक्टरियों में पुरानी मशीनों की मदद से मज़दूरों को जान हथेली पर रखकर काम करना होता है। सुरक्षा प्रबन्ध के नाम पर इन कारख़ानों में सिर्फ़ ख़ानापूर्ति के लिए कुछ चीज़ें रखी जाती हैं जोकि इतनी अव्यावहारिक होती हैं कि मज़दूर ख़ुद ही उसका इस्तेमाल नहीं करते हैं। इन फ़ैक्टरियों में दुघर्टनाएँ नियमित होती रहती हैं। मज़दूरों के हाथ-पैर कटते रहते हैं, चोटें लगती रहती हैं, मौतें होती रहती हैं। दुर्घटना होने पर मुआवज़ा तो दूर, घायल मज़दूर का ठीक से इलाज भी नहीं कराया जाता।

फ़ैक्टरी मालिक-पुलिस प्रशासन-विधायक/पार्षदों की मिलीभगत से यह सबकुछ चल रहा है। छोटे-छोटे नर्सिंग होमों में मज़दूरों का जैसे-तैसे इलाज करवाकर मामला निपटा दिया जाता है। किसी भी फ़ैक्टरी में किसी भी श्रम क़ानून का कोई पालन नहीं होता है।

एस-59 के कुछ मज़दूरों का कहना था कि यह इस फ़ैक्टरी में दुघर्टना से पाँचवीं मौत है। स्थानीय विधायक तथा फ़ैक्टरी मालिक की काफ़ी नज़दीकी है, जिसका सबूत विधायक के यहाँ से धमकी भरे फ़ोन का आना है।

अब सवाल यह है कि किया क्या जाये? क्या हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से कोई रास्ता निकल सकता है। यहाँ राजा विहार, सूरज पार्क-जे.जे.कोलोनी, समयपुर, संजय कालोनी में मज़दूरों की एक बहुत बड़ी आबादी रहती है। ज़्यादातर मज़दूर पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के रहने वाले हैं। पुराने मज़दूरों की आबादी ठीक-ठाक है तथा नये मज़दूर भी आ रहे हैं। इस इलाक़े में मज़दूरों के बीच सीपीएम की यूनियन सीटू के लोग अपनी दुकानदारी चलाते हैं तथा कुछ छोटे-छोटे दलाल 'मालिक सताये तो हमें बतायें' का बोर्ड लगाकर बैठे हुए हैं, जिनकी गिद्ध दृष्टि मज़दूरों पर लगी रहती है। जैसे ही कोई परेशान मज़दूर उनके पास पहुँचता है ये गिद्ध उस पर टूट पड़ते हैं तथा उसकी बची-खुची बोटी नोचकर अपना पेट भरते हैं।

इस इलाक़े में मज़दूरों को जागृत, गोलबन्द तथा संगठित करने का काम चुनौतियों से भरा हुआ है। लगातार प्रचार के माध्यम से मज़दूरों की चेतना को जागृत करते हुए उन्हें मज़दूरों के जुझारू इतिहास से परिचित कराना होगा, उन्हें उनके हक़ के बारे में लगातार बताते रहना होगा तथा उनके बीच के अगुआ लोगों को लेकर ऐसी एक-एक घटना के ख़िलाफ़ लगातार प्रचार करके पुलिस-प्रशासन-नेताशाही पर दबाव बनाना होगा, तभी जाकर इन दुर्घटनाओं को रोकने के लिए कारगर क़दम उठाने पर फ़ैक्टरी मालिकों को मजबूर किया जा सकता है। इसी प्रक्रिया में मज़दूरों को लगातार बताना होगा कि यह पूरी व्यवस्था मालिकों की हिफ़ाज़त के लिए है तथा बिना इस पूरी व्यवस्था को जड़ से बदले मज़दूरों का इन्सानों की ज़िन्दगी जी पाना असम्भव है।

बोलते आँकड़े चीख़ती सच्चाइयाँ

• पूरी दुनिया में कम से 12.3 मिलियन लोगों से बँधुआ मज़दूरी करायी जाती है।

• हर साल पूरी दुनिया में 20 लाख लोग काम के दौरान दुर्घटनाओं या पेशागत रोगों के कारण मारे जाते हैं।

• दुनिया के केवल 20 प्रतिशत आबादी को उचित सामाजिक सुरक्षा प्राप्त है और आधी से अधिक आबादी को कोई सुरक्षा नहीं है।

• मौजूदा समय में पूरी दुनिया में 20 करोड़ से अधिक बच्चे बाल मज़दूरी कर रहे हैं, जो उनके मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक विकास को नुक़सान पहुँचा रहा है।

• 18 वर्षों के नवउदारवादी दौर के बाद, इक्कीसवीं सदी के भारत की ख़ासियत यह है कि यह अरबपतियों की कुल दौलत के लिहाज़ से अमेरिका के बाद दुनिया में दूसरे नम्बर पर है, लेकिन बेघरों, कुपोषितों, भूखों और अनपढ़ों की तादाद के लिहाज़ से भी दुनिया में पहले नम्बर पर है। ऐश्वर्य-समृद्धि की चकाचौंध भरी दुनिया का दूसरा अन्धकारमय पहलू यह है कि (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार) देश की 18 करोड़ आबादी झुग्गियों में रहती है और 18 करोड़ आबादी फुटपाथों पर सोती है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के ही अनुसार, ग्रामीण भारत में प्रतिदिन औसत उपभोग मात्र 19 रुपये और शहरी भारत में 30 रुपये है। गाँवों की दस प्रतिशत आबादी 9 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करती है। 'नेशनल कमीशन फ़ॉर इण्टर-प्राइज़ेज़ इन द अनऑर्गेनाइज़्ड सेक्टर' की एक रिपोर्ट के अनुसार, वर्ष 2004-05 में क़रीब 84 करोड़ लोग (यानी आबादी का 77 फ़ीसदी हिस्सा) रोज़ाना 20 रुपये से भी कम पर गुज़र कर रहे थे । इनमें से 22 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपये की आमदनी पर (यानी सरकारी 'ग़रीब रेखा' के नीचे), 19 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपये से 15 रुपये के बीच की आमदनी पर और 36 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 15 से 20 रुपये के बीच की आमदनी पर गुज़ारा कर रहे थे।

• भारत में औसत आयु चीन के मुक़ाबले 7 वर्ष और श्रीलंका के मुक़ाबले 11 वर्ष कम है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्युदर चीन के मुक़ाबले तीन गुना, श्रीलंका के मुक़ाबले लगभग 6 गुना और यहाँ तक कि बांग्लादेश और नेपाल से भी ज़्यादा है। भारतीय बच्चों में से तक़रीबन आधों का वज़न ज़रूरत से कम है और वे कुपोषण से ग्रस्त हैं। क़रीब 60 फ़ीसदी बच्चे ख़ून की कमी से ग्रस्त हैं और 74 फ़ीसदी नवजातों में ख़ून की कमी होती है। प्रतिदिन लगभग 9 हज़ार भारतीय बच्चे भूख, कुपोषण और कुपोषणजनित बीमारियों से मरते हैं। 5 साल से कम उम्र के बच्चों की मौत के 50 फ़ीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। 5 वर्ष से कम आयु के 5 करोड़ भारतीय बच्चे गम्भीर कुपोषण के शिकार हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार, 63 फ़ीसदी भारतीय बच्चे प्राय: भूखे सोते हैं और 60 फ़ीसदी कुपोषणग्रस्त होते हैं। 23 फ़ीसदी बच्चे जन्म से कमज़ोर और बीमार होते हैं। एक हज़ार नवजात शिशुओं में से 60 एक वर्ष के भीतर मर जाते हैं। लगभग दस करोड़ बच्चे होटलों में प्लेटें धोने, मूँगफली बेचने आदि का काम करते हैं।

• 2001-2002 में भारत की केन्द्र और राज्य सरकारें सकल घरेलू उत्पाद का 2.98 ही शिक्षा पर ख़र्च कर रही थीं, जो 2007-2008 तक घटकर 2.91 रह गया।

• भारत की वित्तीय राजधानी मुम्बई में, 60 प्रतिशत से अधिक आबादी झुग्गी-झोंपड़ियों में रहती है। जहाँ वे अमानवीय स्थितियों में रहती हैं और स्वास्थ्य की स्थिति ग्रामीण क्षत्रों के जैसी है।

• मुम्बई के 40 प्रतिशत बच्चों का वज़न सामान्य से कम है, यानी उन्हें पर्याप्त पोषण नहीं मिलता।

• 2007 में स्तर 4 के कुपोषण के कारण भारी संख्या में मुम्बई की अनेक झुग्गी-बस्तियों के बच्चों को अस्पताल में भरती कराना पड़ा था।

• वर्ष 2009 में प्रति व्यक्ति, प्रति दिन 2 यूएस डॉलर से कम पर गुज़ारा करने वालों की संख्या बढ़कर एक अरब से अधिक, या दुनिया में रोज़गार प्राप्त लोगों की संख्या का 45 प्रतिशत हो जायेगी। 2005 में आबादी का 42 प्रतिशत हिस्सा 1.25 अमेरिकी डॉलर प्रति दिन की अन्तरराष्ट्रीय ग़रीबी रेखा से नीचे रह रहा था।

• अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार वर्ष 2009 में 210 मिलियन से 239 मिलियन तक की संख्या में बेरोज़गार होंगे।

• 2007 से लेकर अब तक बेरोज़गारों में 39 और 59 मिलियन लोगों की बढ़ोत्तरी हुई है।

• इराक़ में अमेरिकी और मित्र देशों की सेना के हमले और क़ब्ज़े से लेकर अभी तक 1,331, 578 यानी लगभग सवा करोड़ इराक़ियों की मौत हो चुकी है।

• अमेरिकी युद्ध और इराक़ पर क़ब्ज़े के बाद से अब तक अमेरिका 676, 922, 100, 934 डॉलर की राशि ख़र्च कर चुका है।

• दुनिया की 5.5 अरब की जनसंख्या में से 3 अरब ग्रामीण इलाक़ों में रहते हैं। यह संख्या पूरे दुनिया की जनसंख्या की लगभग आधी है।

• 1997 से 2006 तक भारत सरकार ने सकल घरेलू उत्पाद का मात्र 4 प्रतिशत ख़र्च किया।

• वर्ष 2008 में विश्वभर में मज़दूरों की माँगों के लिए लड़नेवाले 78 ट्रेडयूनियन नेताओं की हत्या हुई।

• जहाँ विकसित देशों के लोग औसतन अपनी कुल आमदनी का 10 से 20 फ़ीसदी भोजन पर ख़र्च करते हैं, वहीं भारत के लोग अपनी कुल कमाई का औसतन क़रीब 55 फ़ीसदी हिस्सा भोजन पर ख़र्च करते हैं। लेकिन कम आय वर्ग के भारतीय नागरिक अपनी आमदनी का 70 प्रतिशत भाग भोजन पर ख़र्च करते हैं, और फिर भी उसे दो जून न तो भरपेट भोजन मिलता है, न ही पोषणयुक्त भोजन। औसतन एक आदमी को प्रतिदिन 50 ग्राम दाल चाहिए, लेकिन भारत की नीचे की 30 फ़ीसदी आबादी को औसतन 13 ग्राम ही नसीब हो पाता है।

• देश के दस सर्वोच्च खरबपति हर मिनट दो करोड़ रुपये बनाते हैं। अकेले मुकेश अम्बानी हर मिनट 40 लाख रुपये बनाते हैं। दुनिया के शीर्षस्थ 5 महाधनिकों में से दो भारतीय हैं। 'फ़ोर्ब्स' पत्रिका द्वारा तैयार दुनिया के अरबपतियों की सूची में 2004 में 9 भारतीय शामिल थे। यह संख्या 2007 तक बढ़कर 40 हो गयी। भारत से बहुत अधिक धनी देश जापान में अरबपतियों की तादाद 2007 में महज़ 24, फ़्रांस में 14 और इटली में भी 14 थी। चीन में तेज़ आर्थिक विकास और तेज़ी से बढ़ती गैरबराबरी के बावजूद 2007 में वहाँ कुल 17 अरबपति ही थे। भारत के अरबपतियों की दौलत महज़ एक साल में, 2006-07 के दौरान 106 अरब डॉलर से बढ़कर 170 अरब डॉलर हो गयी। अर्थशास्त्री अमित भादुड़ी (फ़िलहाल, अगस्त-सितम्बर 2008) के अनुसार, अरबपतियों की दौलत में 60 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी इसलिए मुमकिन हुई कि राज्य और केन्द्र सरकारों ने खनन, उद्योगीकरण और विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिए "सार्वजनिक उद्देश्य" के नाम पर बड़े पैमाने पर ज़मीन निजी कारपोरेशनों को सौंप दी। कारपोरेट मुनाफ़े के आँकड़े बताते हैं कि वर्ष 2000-01 के बाद से अब तक सकल घरेलू उत्पाद में हर अतिरिक्त 1 फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी से कारपोरेट मुनाफ़ों में 2.5 फ़ीसदी की बढ़त हुई है। आज़ादी के बाद के छ: दशकों का बैलेंसशीट यह है कि ऊपर के 22 एकाधिकारी पूँजीपति घरानों की परिसम्पत्ति में 500 गुने से भी अधिक का इज़ाफ़ा हुआ है। इन घरानों में वे बहुराष्ट्रीय निगम शामिल नहीं हैं जिनके शुद्ध मुनाफ़े में दोगुना-चौगुना नहीं बल्कि औसतन सैकड़ों गुना की वृद्धि हुई है।

• विगत कुछ वर्षों के दौरान भारत करोड़पतियों की संख्या में वृद्धि दर की दृष्टि से पूरी दुनिया में वियतनाम के बाद दूसरे स्थान पर रहा है। दिसम्बर 2007 में भारत में 1 लाख 23 हज़ार करोड़पति थे, जो एक वर्ष पूर्व के मुक़ाबले 23 प्रतिशत अधिक था। करोड़पति वृद्धिदर के मामले में तीसरे स्थान पर चीन आता है। ज्ञातव्य है कि बाज़ार समाजवाद के नाम पर चीन और वियतनाम में भी नवउदारवाद का घटाटोप छाया है, जिसके चलते वहाँ भी सामाजिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेज़ गति से जारी है।

20 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करने वाले 84 करोड़ लोगों के देश में 300 सांसद करोड़पति

पूँजीवादी समाज में जनतन्त्र का सिर्फ़ ढोंग ही होता है। यहाँ जनतन्त्र अमीरों के लिए होता है न कि ग़रीब मेहनतकश जनता के लिए। इतिहास बार-बार इस बात की पुष्टि करता रहा है। हमारे देश की 15वीं लोकसभा के नतीजों से इस बार यह बात और भी ज़ोरदार ढंग से उभरकर सामने आयी है। कांग्रेस की अगुवाई में यूपीए गठबन्धन ने भले ही आसानी से सरकार बना ली होगी, लेकिन कोई भी गठबन्धन या पार्टी स्पष्ट बहुमत हासिल नहीं कर पाया था। लेकिन संसद में अब करोड़पतियों को स्पष्ट बहुमत हासिल हुआ है। जी हाँ, संसद में इस बार 542 में से 300 करोड़पति सांसद हैं। जिस देश की 84 करोड़ जनता का गुज़ारा रोज़ाना – महज़ 20 रुपये प्रति व्यक्ति से भी कम पर होता है, जहाँ लोग भूख-प्यास से मर रहे हों, बीमारियों में जकड़े बिना इलाज के तड़प रहे हों, बच्चे शिक्षा से वंचित हों और उन्हें भी मज़दूरी करके पेट भरना पड़ता हो, मज़दूर बेकारी, तालाबन्दियों-छँटनियों के शिकार हो रहे हों, क़र्ज़ में डूबे ग़रीब किसान परिवार समेत आत्महत्याएँ कर रहे हों, जहाँ महिलाएँ गुज़ारे के लिए अपना शरीर तक बेचने को मजबूर हों, उस देश की जनता के साथ इससे बड़ा मज़ाक़ क्या हो सकता है कि उनके भविष्य का फ़ैसला करने के लिए करोड़पतियों से लेकर खरबपति सिंहासनों पर विराजमान हों।

जैसाकि हमने कहा कि **इस बार 300 करोड़पति सांसद बने हैं। लेकिन यह आँकड़ा तो सांसदों द्वारा उनकी सम्पत्ति के बारे में उस जानकारी पर आधारित है जो इन्होंने ख़ुद ही चुनाव से पहले दर्ज करवायी थी। कोई भी समझ सकता है कि उनके द्वारा दर्ज करवायी गयी जानकारी झूठ के पुलिन्दे के सिवा कुछ नहीं होती। इस आधार पर कहा जा सकता है कि बाक़ी के सांसदों में से भी अधिकतर करोड़पति से कम नहीं होंगे।**

आज चाहे कोई भी चुनावी पार्टी हो, हरेक जनता की सच्ची दुश्मन है। किसी भी तरह की पार्टी या गठबन्धन की सरकार बने सभी जनविरोधी नीतियाँ ही लागू कर रहे हैं। पूँजीपति वर्ग की सेवा करना ही उनका लक्ष्य है। आज राज्यसत्ता द्वारा देशी-विदेशी पूँजी के हित में कट्टरता से लागू की जा रही वैश्वीकरण- उदारीकरण-निजीकरण की घोर जनविरोधी नीतियों से कोई भी चुनावी पार्टी न तो असहमत है, न ही असहमत हो सकती है। कांग्रेस, भाजपा से लेकर तमाम क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियाँ और साथ में मज़दूरों-ग़रीबों के लिए नक़ली आँसू बहाने वाली तथाकथित लाल झण्डे वाली चुनावी कम्युनिस्ट पार्टियाँ सभी की सभी इन्हीं नीतियों के पक्ष में खुलकर सामने आ चुकी हैं। इन पार्टियों के पास ऐसा कुछ भी ख़ास नहीं है जिसके ज़रिये वे जनता को लुभा सकें। वे जनता को लुभाने के लिए जो वायदे करते भी हैं, इन सभी पार्टियों को पता है कि जनता अब उनका विश्वास नहीं करती। आज जनता किसी भी चुनावी पार्टी पर विश्वास नहीं करती। धन के खुलकर इस्तेमाल के बिना कोई पार्टी या नेता चुनाव जीत ही नहीं सकता। वोट हासिल करने के लिए नेताओं की हवा बनाने के लिए बड़े स्तर पर प्रचार हो या वोटरों को पैसे देकर ख़रीदना, शराब बाँटना, वोटरों को डराना-धमकाना, बूथों पर क़ब्ज़े करने हों, लोगों से धर्म-जाति के नाम पर वोट बटोरने हों – इस सबके लिए मोटे धन की ज़रूरत रहती है। पूँजीवादी राजनीति का यह खेल ऐसे ही जीता जाता है। जैसे-जैसे समय गुज़रता जा रहा है वैसे-वैसे यह खेल और भी गन्दा होता जा रहा है। 14वीं लोकसभा के चुनावों में 9 प्रतिशत उम्मीदवार करोड़पति थे जोकि अब की बार 16 प्रतिशत हो गये। यह भी ध्यान देने लायक़ है कि इस बार जब करोड़पति कुल उम्मीदवारों का 16 प्रतिशत थे लेकिन जीत हासिल करने वालों में इनकी गिनती लगभग 55 प्रतिशत है। इस बार विभिन्न पार्टियों के उम्मीदवारों की औसतन सम्पत्ति इस प्रकार थी : कांग्रेस – 5 करोड़, भाजपा – 2 से 3 करोड़, बसपा – 1.5 से 2.5 करोड। कांग्रेस ने 202 करोड़पतियों को टिकटें दीं, भाजपा ने 129, बसपा ने 95, समाजवादी पार्टी ने 41 करोड़पतियों को लोकसभा के चुनावों में उतारा।

आन्ध्र प्रदेश से चुने गये कुल 42 लोकसभा मेम्बरों के पास 606 करोड़ की सम्पत्ति है। इस मामले में यह प्रान्त सबसे आगे है। हरियाणा के दस लोकसभा मेम्बर चुने गये हैं जिनकी कुल सम्पत्ति 181 करोड़ है। महाराष्ट्र के सांसदों के पास 500 करोड़, तमिलनाडू के सांसदों के पास 450 करोड़ की सम्पत्ति, उत्तर प्रदेश के सांसदों के पास 400 करोड़ की सम्पत्ति, कर्नाटक के सांसदों के पास 160 करोड़ और पंजाब के सांसदों के पास 150 करोड़ की सम्पत्ति है। राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, दिल्ली, गुजरात, असम, पश्चिम बंगाल, केरल, हिमाचल प्रदेश, मेघालय, झारखण्ड, उत्तराखण्ड, जम्मूकश्मीर और अरुणाचल प्रदेश का हरेक सांसद 10-10 करोड़ का मालिक है। पाठकों को हम फिर याद दिला दें कि ये आँकड़े उस जानकारी पर ही आधारित हैं जो लोकसभा के चुनाव में उतरे उम्मीदवारों ने ख़ुद ही दर्ज करवायी थी। असल में चुनाव लड़ने वाले और जीतने वाले नेताओं की सम्पत्ति दर्ज करवायी गयी सम्पत्ति से कहीं अधिक होगी।

कहने की ज़रूरत नहीं कि इन अमीर नेताओं के पास यह पैसा जनता की भारी लूट के ज़रिये ही जमा हुआ है। ये लुटेरे जनता के अपराधी हैं। लेकिन देश का क़ानून इन्हें अपराधी नहीं मानता। संसद में जनता के ये अपराधी शान से विराजमान हैं। लेकिन संसद में उनकी भी भारी गिनती है जिनके ऊपर भारतीय संविधान के अन्तर्गत अनेकों आपराधिक मामले दर्ज हैं। इनकी गिनती 150 है।

यह है हमारे देश के जनतन्त्र की असल तस्वीर और इससे बड़ा मज़ाक़ क्या हो सकता है कि भारत को दुनिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र कहा जाता है।

लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूरों का संघर्ष रंग लाया

19 मई को लुधियाना की अमित टैक्सटाइल फ़ैक्टरी में कारीगरों ने एक दिन और रात के लिए काम बन्द कर दिया। मालिक ने मजबूर होकर 50 पैसे प्रति पीस शाल का रेट बढ़ा दिया। पहले 6.50 रुपये मिलता था वह अब 7 रुपये हो गया। पिछले दो वर्ष से रेट नहीं बढ़ा था और महँगाई बढ़ने से कारीगरों को अपना गुज़ारा चलाना मुश्किल हो रहा था। इस बारे में पहले भी मालिक के ध्यान में ला दिया गया था, पर कोई भी सुनवाई न होती देख कारीगरों ने काम बन्द कर दिया।

अमित टैक्सटाइल नाम से कुल पाँच फ़ैक्टरियाँ हैं जिनके मालिक तीन भाई हैं। जिस फ़ैक्टरी में हड़ताल हुई वह लुधियाना में समराला चौक के पास बेअन्तपुरी मुहल्ले की तीन नम्बर गली में स्थित है। इस फ़ैक्टरी में 22 लूम कारीगर, 7 बाइण्डर, 8 कटाई वाले, 2 नली वैण्डर, 1 ताना मास्टर, हैं। 3 मुनीमों और 1 सफ़ाईकर्मी को मिला कर 43 मज़दूर काम करते हैं। प्रोडक्शन करने वाले मज़दूरों को वेतन पीस रेट के हिसाब से मिलता है। कोई पहचानपत्र, ई.एस.आई. कार्ड, फ़ण्ड-बोनस आदि कुछ नहीं मिलता है। बाक़ी फ़ैक्टरियों की तरह यहाँ पर भी कोई लेबर क़ानून लागू नहीं है। शोषण सिर्फ़ यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। धागा घटिया चलाया जाता है जो बार-बार टूटता रहता है। बार-बार धागा टूटने से मज़दूर को एक तो नुक़सान यह होता है कि शाल के हरेक पीस को तैयार करने में अधिक समय लगता है। दूसरा नुक़सान यह कि कई पीसों में बहुत सारी गाँठ पड़ जाती हैं यानी कि पीस ही बेकार हो जाता है। इन बेकार पीसों का बाज़ार मूल्य के बराबर पैसा कारीगरों के वेतन में से काट लिया जाता है। एक कारीगर ने बताया कि पिछले वर्ष मालिक ख़राब पीस का 70 रुपये काटता था। अब 100 रुपये काटता है। कई पुराने कारीगर कहते हैं कि पहले बढ़िया धागा चलता था तो ठीक रहता था। लेकिन अब सस्ता घटिया धागा चलाने से पीस ख़राब होता है, लेकिन ग़लती मज़दूर की ही निकाली जाती है।

जिस इलाक़े में यह फ़ैक्टरी स्थित है उसमें हर शनिवार को पावरकट रहता है इसलिए मज़दूरों की छुट्टी रहती है। लेकिन मालिक रात को काम चलवाता है। रात की शिफ़्ट में खाने का भी पैसा नहीं दिया जाता।

महँगाई से परेशान होकर लगभग 16 लूम कारीगरों ने मालिक से कहा कि पीस रेट 1 रुपया तक बढ़ा दिया जाये। लेकिन मालिक ने मना कर दिया। इसलिए मज़दूरों ने मजबूर होकर 19 मई की रात को काम बन्द कर दिया। यह ऐसा समय था जब मालिक को एक तरफ़ तो ऑर्डर पूरा करना था तो दूसरी तरफ़ कारीगरों की भारी कमी आ रही थी। आसानी से समझा जा सकता है कि मज़दूरों का पलड़ा भारी था। मालिक ने थोड़ी होशियारी दिखाने की कोशिश की। उसने कहा कि गोदाम भरा हुआ है और उसे हड़ताल से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला। लेकिन मज़दूर सारे हालात समझते थे। वे लड़ाई जारी रखने की ठाने हुए थे। जिसका नतीजा यह हुआ कि मालिक को मजबूर होकर समझौते के लिए तैयार होना पड़ा। 20 मई की शाम को समझौता हुआ। प्रति पीस 50 पैसे की बढ़ोतरी करवाकर हड़ताली मज़दूरों ने आंशिक सफलता हासिल की।

हड़ताल करने से पहले ही मज़दूरों ने समझदारी दिखाते हुए पिछला वेतन ले लिया था और तभी जाकर मालिक से पीस रेट बढ़ाने की बात की। बात करने के लिए भी किसी एक व्यक्ति को न भेजकर 4-5 मज़दूरों को भेजा गया। बात किसी एक व्यक्ति पर न छोड़ना – सही क़दम था।

स्पष्ट देखा जा सकता है कि यह हड़ताल कोई लम्बी-चौड़ी योजनाबन्दी का हिस्सा नहीं थी। अपनी माँगें मनवाने के लिए इसे फ़ैक्टरी के मज़दूरों की बिलकुल शुरुआती और अल्पकालिक एकता कहा जा सकता है। इस फ़ैक्टरी के समझदार मज़दूर साथियों से आशा की जानी चाहिए कि वे अपनी इस अल्पकालिक एकता से आगे बढ़कर बाकायदा सांगठनिक एकता क़ायम करने के लिए कोशिश करेंगे। एक माँगपत्र के इर्दगिर्द मज़दूरों को एकता क़ायम करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। ख़राब पीस के पैसे काटना बन्द किया जाये (क्योंकि पीस सस्ते वाला घटिया धागा चलाने के कारण ख़राब होता है), पहचान पत्र और इ.एस.आई. कार्ड बने, प्रॉविडेण्ट फ़ण्ड की सुविधा हासिल हो आदि माँगें इस माँगपत्र में शामिल की जा सकती हैं। हमारी यह ज़ोरदार गुजारिश है कि मज़दूरों को पीस रेट सिस्टम का विरोध करना चाहिए क्योंकि मालिक वेतन सिस्टम के मुक़ाबले पीस रेट सिस्टम के ज़रिये मज़दूरों का अधिक शोषण करने में कामयाब होता है। इसलिए पीस रेट सिस्टम का विरोध करते हुए आठ घण्टे का दिहाड़ी क़ानून लागू करवाने और आठ घण्टे के पर्याप्त वेतन के लिए माँगें भी माँगपत्र में शामिल होनी चाहिए और इनके लिए ज़ोरदार संघर्ष करना चाहिए। इसके अलावा सुरक्षा इन्तज़ामों के लिए माँग उठानी चाहिए जोकि बहुत ही महत्त्वपूर्ण माँग बनती है। साफ़-सफ़ाई से सम्बन्धित माँग भी शामिल की जानी चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि सभी माँगें एक बार में ही पूरी हो जायेंगी। मज़दूरों में एकता और लड़ने की भावना का स्तर, माल की माँग में तेज़ी या मन्दी आदि परिस्थितियों के हिसाब से कम से कम कुछ माँगें मनवाकर बाक़ी के लिए लड़ाई जारी रखनी चाहिए।

मज़दूरों को तैयार करने के लिए जागरूक मज़दूर साथियों को लगातार कोशिश तो करनी ही होगी। एकता को परखने व मज़बूत करने और मज़दूरों को संघर्ष के शुरुआती तजुर्बे से गुज़ारने के लिए गेट मीटिंगों से लेकर कुछेक घण्टों की हड़ताल जैसे तरीक़े अपनाये जा सकते हैं।

इसके साथ ही साथ बिल्कुल शुरू से ही जागरूक मज़दूर साथियों को दूसरे कारख़ानों के मज़दूरों से तालमेल बिठाने की कोशिशें करनी होंगी। दूसरे कारख़ानों के मज़दूरों के साथ मिलकर ही मालिकों द्वारा मज़दूरों के शोषण को रोकने के लिए कई महत्त्वपूर्ण क़दम उठाये जा सकते हैं और कामयाबी हासिल की जा सकती है। मालिकों के भी संगठन बने हुए हैं। वे प्रशासन-सरकार के समर्थन के साथ योजनाबद्ध ढंग से मज़दूरों का शोषण करते हैं। मज़दूर अगर अपने हक़ प्राप्ति के संघर्ष को अपने-अपने कारख़ानों की चारदीवारी से बाहर नहीं लायेंगे तो वे मालिकों से लडने के लिए पर्याप्त ताक़त हासिल नहीं कर पायेंगे।

-राजविन्दर

स्विस बैंकों में जमा 72 लाख करोड़ की काली कमाई पूँजीवादी लूट के सागर में तैरते हिमखण्ड का ऊपरी सिरा भर है

बीते आम चुनावों में विदेशों में जमा भारत का 72 लाख करोड़ रुपया जमा होने के खुलासे ने चुनावों पर भले ही कोई असर न डाला हो, लेकिन यह कई पहलुओं को खोलने वाला आँकड़ा है। वैसे यह भी जान लेना चाहिए कि यह राशि भले बहुत बड़ी लग रही हो लेकिन असल में यह भारत के धनपतियों के बेहिसाब काले धन का एक छोटा-सा हिस्सा है। लेकिन फिर भी इस छोटी-सी राशि को अगर देश में आम जनता के बुनियादी कामों में लगाने की कल्पना की जाये तो क्या-क्या हो सकता है – इसका एक अनुमान लगाने की कोशिश एक काल्पनिक चार्ट के सहारे की गयी है। (देखें चार्ट)

यूँ तो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की नींव ही मेहनत की क़ानूनी लूट पर खड़ी की जाती है। यानी पूँजीवादी व्यवस्था में मेहनत करने वाले का हिस्सा क़ानूनन पूँजीपति की तुलना में नगण्य होता है। लेकिन पूँजीपतियों का पेट इस क़ानूनी लूट से भी नहीं भरता। लिहाज़ा वे पूँजीवाद के स्वाभाविक लक्षण 'भ्रष्टाचार' का सहारा लेकर गैरक़ानूनी ढंग से भी धन-सम्पदा जमा करते रहते हैं। जनता के लिए सदाचार, ईमानदारी और नैतिकता की दुहाई देकर खुद हर तरह के कदाचार के ज़रिये काले धन के अम्बार और सम्पत्तियों का साम्राज्य खड़ा किया जाता है।

हमारे देश में शुरू से ही अर्थव्यवस्था में काले धन का बड़ा हिस्सा रहा है। 1970 के दशक में यह बात ज़ोर-शोर से उठी थी कि हमारे देश की काले धन की अर्थव्यवस्था वैध अर्थव्यवस्था के लगभग बराबर हो गयी है। 90 के दशक तक आते-आते सरकार मानने लगी कि अब काला धन अर्थव्यवस्था से काफ़ी ज़्यादा हो गया है। 1991 के बाद लागू नवउदारवादी नीतियों ने तो पूँजीपतियों को क़ानूनी और गैरक़ानूनी दोनों तरह की कमाई का घोड़ा सरपट दौड़ाने की खुली छूट दे दी। यहाँ से भारतीय धनपतियों की धन-सम्पदा में गुणात्मक बढ़ोत्तरी होनी शुरू हो गयी। इस दौरान चन्द लोगों के पास धन का संकेन्द्रण पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा तेज़ी से होने लगा। वहीं दूसरी ओर आम जनता की वास्तविक कमाई लगातार घटती गयी और उसका कंगालीकरण बढ़ता गया।

अगर कुछ समय के लिए गैरक़ानूनी धन को अलग करके सिर्फ़ वैध या क़ानूनी अर्थव्यवस्था के आधार पर धनी-ग़रीब के बीच की बढ़ती खाई का ही अध्ययन करें तो तस्वीर कुछ यूँ उभरेगी।

'मार्गन स्टेनले' के निदेशक चेतन आहया के मुताबिक़ : "पिछले चार सालों के दौरान भारत में एक खरब डॉलर से ज़्यादा की दौलत बढ़ी है, यानी भारत के सकल घरेलू उत्पाद के सौ फ़ीसदी से भी ज़्यादा! और इसका बहुत बड़ा हिस्सा आबादी के बहुत ही छोटे हिस्से के हाथों में गया है।" उन्हीं के अनुसार, "पिछले कुछ सालों में भूमण्डलीकरण और पूँजीवाद के उभार की वजह से ग़ैरबराबरी का फ़ासला लगातार चौड़ा ही होता चला गया है...।" एक अन्य अध्ययन के मुताबिक़, देश की ऊपर की दस फ़ीसदी आबादी के पास कुल परिसम्पत्ति का 85 प्रतिशत इकट्ठा हो गया है जबकि नीचे की 60 प्रतिशत आबादी के पास मात्र दो प्रतिशत है। देश में 0.01 प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक हो चुकी है। देश की ऊपर की तीन फ़ीसदी और नीचे की 40 फ़ीसदी आबादी की आमदनी के बीच का अन्तर आज साठ गुना हो चुका है। आयकर रिटर्नों के अध्ययन पर आधारित अपने शोधपत्र में अभिजीत बनर्जी और थॉमस पिकेरी ने बताया है कि भारत के सबसे अमीर 0.01 प्रतिशत लोगों की आमदनी पूरी आमदनी से 150 से 200 गुना ज़्यादा थी। 1980 के दशक के शुरू में यह घटकर 50 गुना से कम रह गयी थी। 1990 के दशक के अन्त तक यह फिर से बढ़कर 150 से 200 गुना ज़्यादा हो गयी। बनर्जी और पिकेरी के अनुसार, 1980 और 1990 के दशकों के दौरान कुल आबादी के ऊपरी एक फ़ीसदी हिस्से ने देश की कुल आमदनी में अपना हिस्सा बहुत अधिक बढ़ा लिया। 1980 के दशक में जहाँ इस 1 फ़ीसदी आबादी में से हर किसी को लाभ हुआ था, वहीं 1990 के दशक में सबसे ऊपर के 0.1 फ़ीसदी लोगों (यानी करीब 11 लाख) ने ही ज़्यादा लाभ बटोरा।

इस बात का सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि देश की आम आबादी की मेहनत की कमाई अवैध तरीक़े से लूटकर जमा की गयी धन-सम्पदा कितनी ज़्यादा होगी। वास्तव में 72 लाख करोड़ तो इस विशाल हिमखण्ड का सतह पर दिखता छोटा-सा हिस्सा मात्र है। ज़ाहिरा तौर पर काले धन की वास्तविक मात्रा इसकी कई गुना ज़्यादा होनी चाहिए।

यह बात इससे भी समझी जा सकती है कि इस देश के धनपतियों का बेहद मामूली हिस्सा ही विदेशों में धन जमा करवाता होगा। वरना ज़्यादातर अमीरों का पैसा देश में अलग-अलग तरह से "सुरक्षित" कर दिया जाता है। कुछ सालों पहले कांग्रेस के केन्द्रीय मन्त्री सुखराम के घर से बोरों में नोटों की गड्डियाँ मिलने की बात तो आपको ध्यान ही होगी। वैसे आमतौर पर काला धन नक़दी की बजाय सम्पत्ति के तौर पर ज़्यादा रखा जाता है। पूँजीपतियों, नौकरशाहों, सरकारी अधिकारियों, प्रबन्धकों, पेशेवर लोगों (बड़े डॉक्टरों, वकीलों) से लेकर सरकारी कर्मचारियों तक काले धन का फैलाव हो चुका है। अपने परिवार, सम्बन्धियों, दूर-दराज के रिश्तेदारों के नाम पर सम्पत्तियाँ ख़रीदना काफ़ी प्रचलित तरीक़ा है। आजकल बीच-बीच में किसी साधारण सरकारी चपरासी, कर्मचारी के कुछ सालों में करोड़ों का मालिक बन जाने के मामले सामने आते रहते हैं। लेकिन असल में ये छोटे मोहरे होते हैं। इस खेल के बड़े मोहरे तो उसी काले धन की बदौलत सत्ता से नजदीक़ी बनाकर या सत्ता में घुसपैठ करके खुद को सुरक्षित कर लेते हैं।

हमारे देश का बहुत सारा काला धन मन्दिरों-मस्जिदों-गुरुद्वारों से लेकर कई धार्मिक संस्थाओं के पास भी पड़ा हुआ है। बड़े-बड़े मन्दिरों के बोर्डों से लेकर चर्चों और वक्फ बोर्ड तक और छोटे-छोटे धार्मिक स्थलों तक में अकूत काला धन जमा है। दिखाने के लिए कुछ का हिसाब-किताब रखा जाता है, लेकिन असल में वास्तविक बड़ी राशि तो काले धन के रूप में मन्दिर-मस्जिदों के मुख्य न्यासियों या मठाधीशों के पास जमा होती जाती है। इन्हीं के नाम पर चलने वाले और कहने को धर्मार्थ पर असल में कमाई के बड़े ज़रिये बन चुके स्कूल-कॉलेजों की कमाई भी गोल-मोल करके काले धन में तब्दील हो जाती है। अगर सिर्फ़ इन धार्मिक स्थलों के सड़ रहे काले धन को ही जब्त कर लिया जाये तो देश का सारा विदेशी कर्ज़ एक झटके में खत्म हो जायेगा।

यह भी सवाल पैदा हो सकता है कि देश और विदेशों में इतना अकूत धन होने के बावजूद भी सरकार पैसों की कमी का रोना क्यों रोती रहती है। वजह साफ़ है – पूँजीपतियों की रक्षा मुस्तैदी से करने वाली सरकार इस पैसे की तरफ़ तो भूल से भी नहीं देखेगी। इस अकूत धन में पूँजीपतियों के साथ राजनेताओं, नौकरशाहों, धार्मिक मठाधीशों के उसी तन्त्र की भी अच्छी-ख़ासी हिस्सेदारी है जो सत्ता चलाने का काम करता है।

भाजपा के पीएम इन वेटिंग आडवाणी ने इस काले धन को विदेशों से वापस लाने का वादा तो कर डाला लेकिन सभी अच्छी तरह जानते थे कि यह महज चुनावी स्टंट है। पहली बात तो यह कि यह धनराशि कोई साल-दो साल में जमा नहीं हो गयी होगी। आज़ादी के बाद से ही यह जमा हो रही है और ऐसा नहीं है कि पिछली सभी सरकारों को इसकी भनक तक न हो। वैसे काला धन किसी एक पार्टी का मामला भी नहीं है। हर छोटे-बड़े बुर्जुआ राजनीतिक दल के लिए यह स्वाभाविक चीज़ है। काला धन पैदा करने वाले ज़्यादातर किसी न किसी पार्टी के कार्यकर्ता बने नज़र आयेंगे। शहरों में प्रॉपर्टी डीलरों, ठेकेदारों, व्यापारियों के राजनीति में पैर पसारने को भी इससे समझा जा सकता है। वैसे अगर आडवाणी कहीं ग़लती से भी इस चुनावी वादे को पूरा करने की गम्भीरता दिखा देते तो उनकी पार्टी में ही उनके ख़िलाफ़ बग़ावत हो जाती।

यहाँ इस चार्ट के माध्यम से दर्शाया गया है कि अगर विदेशों में जमा 72 लाख करोड़ रुपये का आधे से भी कम देश के लोगों के कल्याण के लिए लगा दिये जायें तो स्थिति कितनी बदल सकती है। लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, पोषण, मनोरंजन, यातायात, ऊर्जा ज़रूरतें, कृषि के विकास, और पर्यावरण की रक्षा के लिए भी कितनी योजनाएँ लागू की जा सकती हैं। और तब भी एक बड़ी धनराशि बच जायेगी। इससे बस अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि अगर इस देश में जनता की मेहनत और हुनर से पैदा होने वाली धन-सम्पदा का सही इस्तेमाल किया जाये तो इस देश की तक़दीर बदलने में देर नहीं लगेगी। लेकिन यह ग़ैरक़ानूनी लूट तभी ख़त्म हो सकती है जब उसे जन्म देने वाली क़ानूनी लूट ख़त्म होगी। क़ानूनी लूट का ख़ात्मा पूँजीवाद के ख़ात्मे के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए मेहनतकश वर्ग को इस लूट के राज को ख़त्म करने के लिए लड़ाई की तैयारी अभी से शुरू कर देनी चाहिए।

– कपिल स्वामी

स्विस बैंक में जमा काले धन से क्या-क्या किया जा सकता है – इसकी एक झलक

(भारत मे क़रीब 6 लाख गाँव, 10 हज़ार ब्लॉक, 600 ज़िले हैं)

• हर गाँव में एक प्राथमिक पाठशाला	6 लाख x 10 लाख रुपये	= 60 हज़ार करोड़
• हर गाँव पर एक हाई स्कूल	1 लाख x 1 करोड़ रुपये	= 1 लाख करोड़
• हर ब्लॉक पर एक कॉलेज	10 हज़ार x 10 करोड़ रुपये	= 1 लाख करोड़
• हर ज़िले में एक मेडिकल कॉलेज	600 x 100 करोड़ रुपये	= 60 हज़ार करोड़
• हर ज़िले में 5 उच्च शिक्षण संस्था (इंजीनियरिंग, मैनेजमेण्ट, कृषि, आईटी, विज्ञान और अनुसन्धान केन्द्र)	3 हज़ार x 100 करोड़ रुपये	= 3 लाख करोड़
• प्रत्येक ब्लॉक में म्यूज़िक, ड्रामा-पेंटिंग आदि के शिक्षा केन्द्र	10 हज़ार x 1 करोड़ रुपये	= 10 हज़ार करोड़
• हर गाँव में प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र	6 लाख x 20 हज़ार रुपये	= 1 लाख 20 हज़ार करोड़
• हर छः गाँव में एक मातृ-शिशु स्वास्थ्य एवं चिकित्सा केन्द्र	1 लाख x 1 करोड़ रुपये	= 1 लाख करोड़
• हर ब्लॉक में एक आधुनिक अस्पताल	10 हज़ार x 10 करोड़ रुपये	= 1 लाख करोड़
• हर ज़िले में एक पूर्ण चिकित्सा केन्द्र	600 x 100 करोड़ रुपये	= 60 हज़ार करोड़
• हर ज़िले में 5 उच्च शिक्षण संस्था	3 हज़ार x 100 करोड़ रुपये	= 3 लाख करोड़
• हर ब्लॉक में ऐसा ही छोटा कॉम्प्लेक्स	10 हज़ार x 2 करोड़	= 20 हज़ार करोड़
• छः लाख गाँव में पानी, सड़क, बिजली, कम्युनिटी हाल इत्यादि	6 लाख x 1 करोड़ रुपये	= 6 लाख करोड़
• सिंचाई, कृषि औज़ार, जैविक खाद, जैविक कीटनाशक, बीज का विकासीकरण इत्यादि		= 2 लाख करोड़
• झुग्गियों की जगह पक्के मकान, पानी, सड़क, यातायात व्यवस्था एवं सभी तरह की नागरिक सुविधाएँ		
– 50 लाख के ऊपर आबादी	10 शहर x 10 हज़ार करोड़	= 1 लाख करोड़
– 10 लाख से 50 लाख की आबादी	50 शहर x 1 हज़ार करोड़	= 50 हज़ार करोड़
– 2 हज़ार छोटे शहर	2 हज़ार x 100 करोड़	= 2 लाख करोड़
• 1 करोड़ नये फ़्लैट x 5 लाख रुपये		= 5 लाख करोड़
• पुराने मकानों की मरम्मत	1 लाख करोड़	
• रैन बसेरा	10 हज़ार x 1 करोड़ रुपये	= 10 हज़ार करोड़
• वृद्धाश्रम	10 हज़ार x 1 करोड़ रुपये	= 10 हज़ार करोड़
• सामाजिक सुरक्षा गृह (शिशु, महिला, विकलांग इत्यादि)	10 हज़ार x 1 करोड़	= 10 हज़ार करोड़
• खदान मज़दूरों के लिए मकान		= 10 हज़ार करोड़
• अन्य उद्योगों के मज़दूरों के लिए मकान		= 20 हज़ार करोड़
• मत्स्यजीवियों के लिए मकान और अन्य साधन		= 10 हज़ार करोड़
• पर्यटन केन्द्र पर आवास स्थल		= 10 हज़ार करोड़
• हर तरह का बिजली उत्पादन (परमाणु बिजली को छोड़कर)	50 हज़ार मेगावॉट x 10 करोड़	= 2.5 लाख करोड़
• परिवहन/यातायात व्यवस्था		
– नयी पक्की सड़क	6 लाख किमी. x 10 लाख रुपये प्रति किमी.	= 50 हज़ार करोड़
– नयी रेंज लाइन	1 लाख किमी. x 1 करोड़ रुपये प्रति किमी.	= 1 लाख करोड़

कुल मिलाकर ख़र्च 31 लाख 40 हज़ार करोड़ रुपये

बची शेष राशि 40 करोड़ 60 लाख रुपये

(बंगला पत्रिका 'अनीक' से साभार)

पूँजीपति वर्ग के पास आर्थिक संकट को रोकने का एक ही तरीक़ा है – और भी व्यापक और विनाशकारी संकटों के लिए पथ प्रशस्त करना और इन संकटों को रोकने के साधनों को घटाते जाना!

कार्ल मार्क्स

उत्पादन, विनिमय और सम्पत्ति के अपने सम्बन्धों के साथ आधुनिक बुर्जुआ समाज, वह समाज, जिसने जैसे तिलिस्म से ऐसे विराट उत्पादन तथा विनिमय साधनों की रचना कर दी है, ऐसे जादूगर की तरह है, जिसने अपने जादू से पाताल लोक की शक्तियों को बुला तो लिया है, पर अब उन्हें वश में रखने में असमर्थ है। पिछले कई दशकों से उद्योग और वाणिज्य का इतिहास सिर्फ़ आधुनिक उत्पादक शक्तियों की आधुनिक उत्पादन अवस्थाओं के ख़िलाफ़, उन सम्पत्ति सम्बन्धों के ख़िलाफ़ विद्रोह का ही इतिहास है, जो बुर्जुआ वर्ग और उसके शासन के अस्तित्व की शर्तें हैं। यहाँ पर वाणिज्यिक संकटों का उल्लेख काफ़ी है, जो अपने नियतकालिक आवर्तन द्वारा समस्त बुर्जुआ समाज के अस्तित्व की हर बार अधिकाधिक सख़्त परीक्षा लेते हैं। इन संकटों में न केवल विद्यमान उत्पादों का ही, बल्कि पूर्वसर्जित उत्पादक शक्तियों का भी एक बड़ा भाग समय-समय पर नष्ट हो जाता है। इन संकटों के समय एक महामारी फूट पड़ती है, जो सभी पूर्ववर्ती युगों में एक असंगति प्रतीत होती – अर्थात अति-उत्पादन की महामारी। समाज अचानक अपने आपको क्षणिक बर्बरता की अवस्था में लौटा हुआ पाता है; लगता है, जैसे किसी अकाल या सर्वनाशी विश्वयुद्ध ने उसके सभी निर्वाह साधनों की पूर्ति को एकबारगी ख़त्म कर दिया हो; उद्योग और वाणिज्य नष्ट हो गये प्रतीत होते हैं; क्यों? इसलिए कि समाज में सभ्यता का, निर्वाह साधनों का, उद्योग और वाणिज्य का अतिशय हो गया है। समाज को उपलब्ध उत्पादक शक्तियाँ बुर्जुआ सम्पत्ति की अवस्थाओं के विकास का अब संवर्धन नहीं करतीं; इसके विपरीत, वे इन अवस्थाओं के लिए, जिन्होंने उन्हें बाँध रखा है, अत्यधिक प्रबल हो गयी हैं, और जैसे ही वे इन बन्धनों पर पार पाने लगती हैं कि वे सारे ही बुर्जुआ समाज में अव्यवस्था उत्पन्न कर देती हैं, बुर्जुआ सम्पत्ति के अस्तित्व को ख़तरे में डाल देती हैं। बुर्जुआ समाज की अवस्थाएँ उनके द्वारा उत्पादित सम्पत्ति को समाविष्ट करने के लिए बहुत संकुचित हो जाती हैं। और भला बुर्जुआ वर्ग इन संकटों पर किस प्रकार पार पाता है? एक ओर, उत्पादक शक्तियों की पूरी-पूरी संहति के बलात् विनाश द्वारा और दूसरी ओर, नये-नये बाज़ारों पर क़ब्ज़े द्वारा और साथ ही पुराने बाज़ारों के और भी पूर्णतर दोहन द्वारा। कहने का मतलब यह कि और भी व्यापक और विनाशकारी संकटों के लिए पथ प्रशस्त करके और इन संकटों को रोकने के साधनों को घटाकर।

जिन हथियारों से बुर्जुआ वर्ग ने सामन्तवाद को पराजित किया था, वे अब स्वयं बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध ही तन जाते हैं।

किन्तु बुर्जुआ वर्ग ने केवल ऐसे हथियार ही नहीं गढ़े हैं, जो उसकी मृत्यु लाते हैं, बल्कि उसने उन लोगों को भी पैदा किया है, जिन्हें इन हथियारों को इस्तेमाल करना है – आज के मज़दूर, **सर्वहारा वर्ग**।

जिस अनुपात में बुर्जुआ वर्ग, अर्थात पूँजी का विकास होता है, उसी अनुपात में सर्वहारा, आधुनिक मज़दूरों के वर्ग का भी विकास होता है, जो तभी तक ज़िन्दा रह सकते हैं, जब तक उन्हें काम मिलता है, और उन्हें काम तभी तक मिलता है, जब तक उनका श्रम पूँजी को बढ़ाता है। ये मज़दूर, जिन्हें अपने आपको अलग-अलग बेचना होता है, किसी भी अन्य वाणिज्यिक वस्तु की तरह ख़ुद भी जिन्स हैं, और इसलिए वे होड़ के हर उतार-चढ़ाव तथा बाज़ार की हर तेज़ी-मन्दी के शिकार होते हैं।

....

...अभी तक, जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं, समाज का हर रूप उत्पीड़क और उत्पीड़ित वर्गों के विरोध पर आधारित रहा है। लेकिन किसी भी वर्ग का उत्पीड़न करने के लिए कुछेक अवस्थाएँ सुनिश्चित करना आवश्यक है, जिनमें वह कम से कम अपने दासवत अस्तित्व को बनाये रख सके। भूदासता के युग में भूदास ने अपने को कम्यून के सदस्य की स्थिति तक उठा लिया, ठीक जैसे निम्न बुर्जुआ सामन्ती निरंकुशता के जुए के नीचे बुर्जुआ में विकसित होने में क़ामयाब हो गया था। इसके विपरीत, आधुनिक मज़दूर उद्योग की प्रगति के साथ ऊपर उठने के बजाय स्वयं अपने वर्ग के अस्तित्व के लिए आवश्यक अवस्थाओं के स्तर के अधिकाधिक नीचे ही गिरता जाता है। वह कंगाल हो जाता है और कंगाली आबादी और दौलत से भी ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती है। और यहाँ यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि बुर्जुआ वर्ग अब समाज में शासक वर्ग होने और समाज पर अपने अस्तित्व की अवस्थाओं को एक अभिभावी नियम के रूप में लादने के अयोग्य है। वह शासन करने के अयोग्य है, क्योंकि वह अपने दास का अपनी दासता में अस्तित्व सुनिश्चित करने में अक्षम है, क्योंकि वह उसका ऐसी स्थिति में गिरना नहीं रोक सकता जब उसे दास का पेट भरना पड़ता है, बजाय इसके कि दास उसका पेट भरे। समाज इस बुर्जुआ वर्ग के अधीन अब और नहीं रह सकता, दूसरे शब्दों में उसका अस्तित्व अब समाज से मेल नहीं खाता।

बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व और प्रभुत्व की लाज़िमी शर्त पूँजी का निर्माण और वृद्धि है; और पूँजी की शर्त है उजरती श्रम। उजरती श्रम पूर्णतया मज़दूरों के बीच प्रतिस्पर्द्धा पर निर्भर है। उद्योग की उन्नति, बुर्जुआ वर्ग जिसका अनभिप्रेत संवर्धक है, प्रतिस्पर्द्धा से जनित मज़दूरों के अलगाव की संसर्ग से जनित उनकी क्रान्तिकारी एकजुटता से प्रतिस्थापना कर देती है। इस तरह, आधुनिक उद्योग का विकास बुर्जुआ वर्ग के पैरों के तले उस बुनियाद को ही खिसका देता है, जिस पर वह उत्पादों को उत्पादित और हस्तगत करता है। अत:, बुर्जुआ वर्ग सर्वोपरि अपनी क़ब्र खोदने वालों को ही पैदा करता है। उसका पतन और सर्वहारा की विजय, दोनों समान रूप से अवश्यम्भावी हैं।

('कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' से)

अब बेरोकटोक लागू होंगी पूँजीवादी विकास की नीतियाँ

(पेज 1 से आगे)

यह है कि रोज़ी-रोटी की तलाश में शहरों की ओर भाग रही ग्रामीण आबादी को औद्योगिक बेरोज़गारों की भीड़ में शामिल होने और शहर में दबाव बढ़ाने से रोका जा सके। मज़दूरी की दर कम बनाये रखने के लिए पूँजीपतियों को जिस हद तक बेरोज़गारों की फ़ौज चाहिए, वह तो शहरों में पहले से मौजूद है। इससे ज़्यादा भीड़ बढ़ेगी तो सामाजिक असन्तोष भड़कने का ख़तरा पैदा हो जायेगा। जवाहरलाल नेहरू शहरी पुनरुद्धार मिशन से लेकर निर्माण मज़दूरों और असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को सामाजिक सुरक्षा देने की विभिन्न घोषणाओं के पीछे यही इरादा है।

पहले यह काम सामाजिक जनवादी यानी नकली वामपंथी और एनजीओ किया करते थे लेकिन इन चुनावों में संसदीय वामपंथियों की सीटें घटकर लगभग एक तिहाई रह गयीं। संसदीय वामपंथ के नये सौदागर भाकपा (माले) की हालत तो चौराहे के भिखारी जैसी हो गयी है। अब सरकार देशी-विदेशी थिंकटैंकों की मदद से यह काम खुद ही करने जा रही है।

लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के विचारकों और सरकार की मंशा हकीकत में कितनी लागू हो पायेगी यह सब जानते हैं। ऊपर से नीचे तक जड़ जमाये हुए नौकरशाही और भ्रष्टाचार के कारण इन योजनाओं से होने वाले लाभ का बहुत छोटा-सा हिस्सा ही वास्तव में ग़रीबों को मिल सकेगा। आजकल मीडिया के नये दुलारे राहुल गाँधी के पिता राजीव गाँधी ने कहा था कि सरकार अगर एक रुपया देती है तो ग़रीबों को महज़ 15 पैसे ही नसीब होते हैं। अब राहुल गाँधी ने स्वीकार किया है कि वास्तव में नीचे तक पहुँचने वाली रकम मुश्किल से 10 पैसा ही होती है। ऐसे में इन योजनाओं का मुलम्मा उतरते ज़्यादा देर नहीं लगेगी।

इससे भी बड़ी सच्चाई यह है कि आज का पूँजीवाद इन कीन्सियाई नुस्खों को एक हद से ज़्यादा लागू ही नहीं कर सकता। पूँजीवाद के टिके रहने की शर्त ही यह है कि वह मेहनतकशों को ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़ता जाये। पूँजीवाद के विचारकों के चाहने के बावजूद पूँजीवादी उत्पादन का तर्क तो अपनी ही गति से चलेगा और पूँजीपति मज़दूरों की हड्डियाँ तक चूसने से बाज़ नहीं आयेंगे। आज उनकी खुशी का राज़ भी यही है – वे जानते हैं कि जनता को लुभाने वाली तमाम घोषणाओं की आड़ में असली काम तो उन्हें लूट-खसोट की खुली छूट देने का हो रहा है। ऐसे में यह तय है कि आने वाले समय में जनता की बढ़ी हुई उम्मीदें टूटने के साथ ही लोगों का गुस्सा फूट पड़ेगा। सरकार भी इस बात को समझती है और उसने अभी से इस गुस्से पर काबू पाने के लिए अपने दमनतंत्र को चाक-चौबन्द करने की कवायदें भी शुरू कर दी हैं। पहले दिन से नक्सलवाद को कुचलने के लिए विशेष कदम उठाने की घोषणाएँ की जाने लगी हैं। गृह मंत्रालय में "वामपंथी उग्रवाद" के लिए एक गृह राज्यमंत्री को विशेष प्रभार दिया गया है। इनसे निपटने के लिए कई नयी विशेष 'कोबरा' बटालियनों का गठन करने की घोषणा कर दी गयी है। पिछले सालों का इतिहास गवाह है कि इन तमाम हथियारों का इस्तेमाल जनता के आन्दोलनों को कुचलने के लिए किया जाता रहा है और आगे भी किया जायेगा। आतंकवाद के नाम पर बनाये गये काले कानूनों का इस्तेमाल सबसे अधिक उन लोगों के ख़िलाफ़ किया जाता है जो जनता के हक छीने जाने और मानवाधिकारों के हनन का विरोध करते हैं। ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं से लेकर शहरी ग़रीबों के हक में आन्दोलन करने वालों और गाँवों में भ्रष्टाचार और शोषण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वालों तक को इन काले कानूनों का शिकार बनाया जा चुका है।

इन चुनावों में भाजपा की करारी हार और उसके बाद से संघ परिवार में मची थुक्का-फजीहत से कई लोगों को यह ख़ुशफ़हमी हो गयी है कि अब फासीवाद का ख़तरा लम्बे समय तक टल गया है। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि नयी सरकार की नीतियों से जो संकट पैदा होगा उनसे निपटने के लिए पूँजीपति वर्ग फिर से फासीवाद का इस्तेमाल करेगा। तीसरी दुनिया के बहुतेरे देशों की तरह भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर भी फ़ासीवाद उस शिकारी कुत्ते की तरह मौजूद है जिसकी ज़ंजीर शासक वर्गों के हाथ में है। पूँजीवादी नीतियों की वजह से जब संकट गम्भीर होने लगे और जनता सड़कों पर उतरने लगे तो फिर से उसके ऊपर इस शिकारी कुत्ते को छोड़ा जा सकता है। हमें इस बात की अनदेखी नहीं करनी चाहिए कि ये फासिस्ट ताक़तें बड़े योजनाबद्ध ढंग से गाँवों से लेकर शहरी निम्न मध्य वर्ग और मज़दूरों तक के बीच अपना नया सामाजिक आधार बनाने में लगी हुई हैं। इनका मुकाबला करने के लिए क्रान्तिकारियों को भी मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी प्रचार तेज़ करना होगा और विभिन्न सांस्कृतिक माध्यमों से फासीवादी विचारों और संस्कृति का पर्दाफ़ाश करना होगा।

यूपीए सरकार के नये एजेण्डा की कलई खुलने में ज़्यादा समय नहीं लगेगा। पूँजीवाद के हितैषी तमाम विचारक चाहकर भी पूँजी की मूल गति को अपना काम करने से रोक नहीं सकेंगे। अतिरिक्त मूल्य निचोड़ते जाने के तर्क से मुट्ठी भर लोगों के पास सम्पत्ति का पहाड़ इकट्ठा होता जायेगा और भारी आबादी ग़रीबी में डूबती जायेगी। "वामपंथी" दुस्साहसवाद और संसदवाद के रास्ते से अलग मेहनतकश अवाम को व्यापक सामाजिक परिवर्तन के लिए संगठित करने की राह पर चलने वाले सच्चे क्रान्तिकारियों को अभी से इस सच्चाई से जनता को वाकिफ़ कराते हुए आने वाले समय के संघर्षों की तैयारी में जुट जाना चाहिए।

पूँजीवादी लोकतंत्र में "बहुमत" की असलियत

(पेज 1 से आगे)

सांसद तो अपने क्षेत्र के मतदाताओं के 20 प्रतिशत से भी कम वोट से जीतकर संसद पहुँच गये हैं। यानी वे तो मुश्किल से 9-10 प्रतिशत लोगों के ही नुमाइन्दे हैं।

ये आँकड़े तो बस इस सच्चाई की पुष्टि करते हैं कि यह पूँजीवादी लोकतंत्र, वास्तव में बहुसंख्यक आबादी पर मुट्ठीभर लोगों का शासन होता है। यह लोकतंत्र नहीं धनतंत्र है। यह 20 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करने वाले 84 करोड़ लोगों पर, 100 करोड़ आम अवाम पर पूँजीपति वर्ग की तानाशाही है, जिसमें पूँजीपतियों को लूटने की आज़ादी है, लेकिन मजदूरों को केवल यह चुनने की आज़ादी है कि कौन-सा मालिक उनको लूटेगा। इतना ही नहीं, चुनाव के बाद बनने वाली इस या उस पार्टी की सरकारें तो केवल कुछ नीतियाँ तय करती हैं। सरकार का असली कामकाज तो नौकरशाही सँभालती है जिसकी जनता के प्रति कोई जवाबदेही नहीं होती।

इसका विकल्प केवल ऐसा सच्चा लोकतंत्र ही हो सकता है, जिसमें उत्पादन और वितरण के साथ ही राजकाज के पूरे ढाँचे पर मेहनतकश जनता का नियंत्रण हो। जिसमें कार्यपालिका और विधायिका अलग-अलग नहीं हों। नीतियाँ बनाने वाले लोगों पर उनको लागू करने की ज़िम्मेदारी हो और वे जनता के प्रति जवाबदेह हों। नीचे से लेकर ऊपर तक शासन के सभी पदाधिकारी लोगों द्वारा चुने जायें और जनता को उन्हें चुनने के साथ ही वापस बुलाने का भी अधिकार हो। ऐसा लोकतंत्र इस पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर सम्भव ही नहीं है। केवल एक ऐसे सामाजिक ढाँचे में ही यह मुमकिन है जिसका आधार मुनाफ़ा नहीं बल्कि व्यापक जनता का हित हो।

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

अभिनव

2009 के आम लोकसभा चुनावों में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की विजय के साथ ही बुद्धिजीवियों, सामाजिक जनवादियों और यहाँ तक कि क्रान्तिकारियों का एक हिस्सा इस बात को लेकर बेहद ख़ुश है कि भारतीय जनता पार्टी के रूप में साम्प्रदायिक फ़ासीवाद की पराजय हुई है और फ़ासीवादी ख़तरा टल गया है। चुनावों के ठीक पहले कई सर्वेक्षण इस बात की ओर इशारा कर रहे थे कि चुनावी नतीजे चौंकाने वाले हो सकते हैं और आडवाणी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन को भी विजय हासिल हो सकती है, या कम-से-कम उसे संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन के बराबर या उन्नीस-बीस के फ़र्क़ से थोड़ी ज़्यादा या थोड़ी कम सीटें मिल सकती हैं। चुनाव के नतीजों ने इस बात को ग़लत साबित किया और कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन को विजय प्राप्त हुई। चुनावी नतीजों के हिसाब से चला जाये तो भाजपा को भारी नुक़सान उठाना पड़ा है और पराजय के बाद भाजपा में टूट-फूट, बिखराव और आन्तरिक कलह का एक दौर शुरू हो गया है। भाजपा के शीर्ष विचारकों में से एक सुधीन्द्र कुलकर्णी ने हार का ठीकरा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की रणनीति पर फोड़ते हुए काफ़ी हंगामा खड़ा कर दिया। जसवन्त सिंह ने कहा है कि चुनाव में पराजय के कारणों पर भाजपा में खुली बहस होनी चाहिए। भाजपा नेताओं का एक बड़ा हिस्सा भाजपा अध्यक्ष राजनाथ सिंह को काफ़ी खरी-खोटी सुना रहा है और राजनाथ सिंह की स्थिति काफ़ी दयनीय हो गयी है।

इस सारे घटनाक्रम को देखकर निश्चित तौर पर सन्तोष और ख़ुशी का अनुभव होता है। लेकिन क्या इन चुनावी नतीजों और उसके बाद भाजपा में मची उठा-पटक को देखकर यह कहना उचित है कि फ़ासीवाद भारत में उतार पर है? क्या यह नतीजा निकालना सही है कि भाजपा की पराजय भारत में फ़ासीवाद की पराजय है? इस प्रश्न का जवाब देने के लिए हमें यह समझना होगा कि फ़ासीवाद आख़िर है क्या? इसका इतिहास क्या है? यह कैसे पैदा हुआ? विभिन्न देशों में इसने क्या-क्या रूप ग्रहण किये? इन प्रश्नों के जवाब देने के बाद ही हम यह तय करने की स्थिति में होंगे कि भारत में फ़ासीवाद की "नियति" क्या है।

इससे पहले कि हम फ़ासीवाद के इतिहास और उसके अर्थ पर जायें, कुछ और मुद्दों पर एक शुरुआती चर्चा करना ज़रूरी है। इस चर्चा के बाद हम फ़ासीवाद के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए एक बेहतर स्थिति में होंगे। यह चर्चा पूँजीवाद की प्रकृति, उसके स्वाभाविक संकट और उसकी सम्भावित परिणतियों पर है।

पूँजीवाद की स्वाभाविक परिणतियाँ

पूँजीवादी व्यवस्था किस प्रकार अपनी स्वाभाविक गति से संकट की ओर जाती है?

हम एक पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में जी रहे हैं। इसकी चारित्रिक विशेषताएँ क्या हैं? यह निजी मालिकाने पर आधारित एक व्यवस्था है जिसके केन्द्र में निजी मालिक का मुनाफ़ा है। निजी मालिकों का पूरा वर्ग आपस में प्रतिस्पर्द्धा करता है और इस प्रतिस्पर्द्धा का मैदान होता है पूँजीवादी बाज़ार। समाज के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओं का कोई विस्तृत मूल्यांकन और अनुमान नहीं लगाया जाता है। बाज़ार में माँग के परिमाण के एक मोटा-मोटी मूल्यांकन के आधार पर पूँजीपति यह तय करता है कि उसे क्या पैदा करना है और कितना पैदा करना है। लेकिन यह मूल्यांकन पूरा पूँजीपति वर्ग मिलकर नहीं करता है बल्कि अलग-अलग निजी पूँजीपति करते हैं और इसके आधार पर वे प्रतिस्पर्द्धा करने बाज़ार में उतरते हैं। इसलिए पूरे समाज में होने वाला उत्पादन योजनाबद्ध तरीक़े से नहीं होता है बल्कि अराजक तरीक़े से होता है। बाज़ार द्वारा बतायी जाने वाली माँग और आपूर्ति की स्थितियों के अनुसार हर पूँजीपति उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय लेता है। बाज़ार में कई सेक्टर मौजूद होते हैं। इन सभी सेक्टरों को मोटे तौर पर दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है – उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन और उत्पादन के साधनों का उत्पादन। उपभोग की वस्तुओं में आदमी की रोज़मर्रा की जीवन आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएँ होती हैं, मिसाल के तौर पर, खाने, पहनने के सामान, फ़्रिज-टी.वी.-वाहनों आदि जैसी उपभोक्ता सामग्रियाँ, मनोरंजन के सामान, आदि। हालाँकि, उपभोक्ता सामग्रियों को भी दो हिस्सों (टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ और ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ) में बाँटा जाता है, लेकिन अभी इस विभाजन के विश्लेषण में जाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं होती है। एक-एक उपभोक्ता सामग्री के उत्पादन में कई-कई पूँजीपति लगे होते हैं और अपने माल को बेचने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। इसके लिए वे अख़बारों, टी.वी., रेडियो, बिजली के खम्भों, होर्डिंगों, बस स्टापों और रेलवे स्टेशनों पर मौजूद प्रचार पट्टियों पर प्रचार करते हैं और अपने माल को सबसे अच्छा बताते हैं।

यही हाल, उत्पादन के साधनों के उत्पादन के सेक्टर में भी होता है, लेकिन थोड़ा भिन्न रूप में। इस सेक्टर में मशीनों, उपकरणों और औज़ारों और साथ ही कई प्रकार के माध्यमिक कच्चे माल का उत्पादन किया जाता है। यहाँ पर उत्पादित सामग्री का उपभोक्ता आम आदमी नहीं होता, बल्कि पूँजीपति वर्ग होता है जो अपने उत्पादन के लिए उत्पादन के साधनों को पूँजीपति वर्ग के उस हिस्से से ख़रीदता है जो उत्पादन के साधनों का उत्पादन करता है। आजकल यह विभाजन बहुत क्षीण हो गया है क्योंकि एक ही पूँजीपति ने उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन में भी निवेश कर रखा है और उत्पादन के साधनों के उत्पादन में भी। लेकिन इससे विश्लेषण में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। उत्पादन के दोनों सेक्टरों में उत्पादन और श्रम की स्थितियों का विश्लेषण किया जा सकता है। लेकिन अभी हमारा उद्देश्य यह नहीं है। उत्पादन के साधन के उत्पादन के क्षेत्र में भी एक-एक मशीन या उपकरण के उत्पादन में कई-कई पूँजीपति लगे होते हैं और उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने वाले पूँजीपति वर्ग को अपना उत्पाद बेचने के लिए लुभाने में लगे होते हैं।

विभिन्न वस्तुओं या उत्पादन के साधनों (मशीन, उपकरण आदि) के उत्पादन में अलग-अलग समय पर अलग-अलग स्थितियाँ होती हैं। कभी किसी वस्तु का उत्पादन अधिक लाभदायी होता है तो कभी किसी और वस्तु का। मिसाल के तौर पर, अभी कुछ वर्षों पहले तक विश्व बाज़ार में सूरजमुखी और मेंथा की ज़बरदस्त माँग के कारण भारत में तमाम धनी किसानों और कुलकों ने इनकी खेती शुरू की। कृषि के क्षेत्र में सक्रिय पूँजीपतियों ने बाज़ार में माँग और आपूर्ति की स्थितियों को देखते हुए सूरजमुखी और मेंथा की खेती में पैसा लगाना शुरू किया। लेकिन इन स्थितियों का मूल्यांकन सभी कृषक पूँजीपतियों ने मिलकर संगठित रूप से नहीं किया, बल्कि अलग-अलग किया। जो-जो सूरजमुखी और मेंथा की खेती में आवश्यक भारी पूँजी निवेश और कुशल श्रम की आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम था, उसने इसमें पूँजी लगायी। नतीजा यह हुआ कि इन दोनों ही मालों का अति-उत्पादन हुआ और उनके उत्पाद को ख़रीदने के लिए बाज़ार में पर्याप्त ख़रीदार नहीं रहे। बाज़ार में माँग और आपूर्ति की स्थितियाँ बदल गयीं। अब सूरजमुखी और मेंथा का बाज़ार उतना गर्म नहीं रहा। इस प्रक्रिया में तमाम धनी किसान तबाह हो गये, जिन्होंने भारी पैमाने पर निवेश के लिए बड़े-बड़े ऋण लिये थे। भारत में किसानों द्वारा आत्महत्या का एक बड़ा कारण यह भी रहा है। उनके तबाह होने के साथ खेती में लगी मज़दूर आबादी भी बड़े पैमाने पर बेरोज़गार हुई और छोटे किसान सर्वहाराओं की क़तार में शामिल हुए। अब बाज़ार में दूसरे माल ज़्यादा फ़ायदेमन्द बन गये हैं, जो शायद पहले उतने फ़ायदेमन्द नहीं थे। पहले उनमें पर्याप्त पूँजी लगी हुई थी और उनका उत्पादन माँग से ज़्यादा हो रहा था। इसी कारण उनमें से पूँजी निकलकर उन फ़सलों के उत्पादन में लगी जिनकी माँग अधिक थी, लेकिन पूँजी निवेश कम था। इसी तरह से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पूँजी अधिक मुनाफ़े वाली वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र की ओर स्वाभाविक गति करती रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये क्षेत्र बदलते रहते हैं और पूँजी अराजक तरीक़े से कभी इस तो कभी उस क्षेत्र की ओर भागती रहती है। यह प्रक्रिया पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक सन्तुलनकारी प्रक्रिया होती है जिसे काग़ज़ पर देखा जाये तो बहुत सामान्य लगती है, लेकिन वास्तव में घटित होते हुए देखा जाये तो समझ में आता है कि यह कितनी तबाही लाने वाली प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में लाखों-लाख मज़दूर तबाह होते रहते हैं, अपनी नौकरियों से हाथ धोते रहते हैं और नर्क जैसे जीवन की ओर धकेले जाते रहते हैं। यही पूँजीवादी व्यवस्था की अराजकता का मूल है। एक निजी मालिकाने पर आधारित व्यवस्था जिसमें समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन नहीं किया जाता, बल्कि हर पूँजीपति अपने मुनाफ़े की ख़ातिर बाज़ार में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा के लिए उतरता है। इस पूरी प्रक्रिया में पूँजीपतियों का एक हिस्सा तबाह होकर मध्यम वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग और सर्वहारा वर्ग की क़तार में शामिल होता रहता है और लाखों-करोड़ों की संख्या में मज़दूर अपना काम खोते हैं और बेरोज़गारों की क़तार में शामिल होते रहते हैं। अपनी अराजक गति से पूँजीवाद मज़दूरों को बरबाद करता रहता है और उन्हें बेरोज़गारों की फ़ौज में धकेलता रहता है। यह एक मानव-केन्द्रित नहीं बल्कि मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था होती है।

पूँजीवाद में विभिन्न सेक्टरों में मन्दी की स्थिति तो आती-जाती रहती ही है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में निश्चित अन्तरालों पर आम संकट की स्थिति पैदा होती रहती है, जब अधिकांश सेक्टरों में अति-उत्पादन हो जाता है और मन्दी पैदा होती है। यह कैसे होता है इसे समझ लेना भी यहाँ उपयोगी होगा।

प्रतिस्पर्द्धा में टिके रहने के लिए हर पूँजीपति अपने उत्पादन की लागत को घटाता है। लागत का अर्थ है उत्पादन में लगने वाली कुल पूँजी। इस पूँजी के दो हिस्से होते हैं – पहला, स्थिर पूँजी जो मशीनों, इमारत, बिजली, पानी व कच्चे माल पर लगती है और दूसरा, परिवर्तनशील पूँजी जो पूँजीपति मज़दूरी के रूप में मज़दूरों को देता है। स्थिर पूँजी को स्थिर पूँजी इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान परिवर्तित नहीं होती है। उसका मूल्य सीधे-सीधे, बिना बढ़े हुए उत्पादित माल में स्थानान्तरित हो जाता है। इसमें से कुछ का मूल्य एक बार में भी माल में स्थानान्तरित हो जाता है, जैसे कच्चा माल, बिजली, आदि, और कुछ का मूल्य एक लम्बी प्रक्रिया में माल में स्थानान्तरित होता है, जैसे मशीनें और उपकरण आदि। इनका मूल्य तब तक माल में स्थानान्तरित होता रहता है जब तक कि वे घिसकर बेकार न हो जायें और उनकी उम्र पूरी न हो जाये। एक बार के उत्पादन में उसके कुल मूल्य का एक हिस्सा उत्पाद में जाता है। इसे घिसाई मूल्य (डेप्रिसियेशन वैल्यू) कहा जाता है। लेकिन यह मूल्य भी उत्पादन के दौरान बढ़ता-घटता नहीं है। यह ज्यों का त्यों उत्पाद में चला जाता है। इसीलिए मशीनों और कच्चे माल पर लगने वाली पूँजी को स्थिर पूँजी कहा जाता है। मज़दूरी के रूप में लगने वाली पूँजी को परिवर्तनशील पूँजी कहा जाता है, क्योंकि मज़दूर का श्रम ही वह चीज़ है जो वस्तुओं के एक अनुपयोगी समूह को मशीनों, उपकरणों आदि के इस्तेमाल से एक उपयोगी माल का रूप देता है। श्रम ही उत्पादन का वह कारक है जो किसी उत्पाद में उपयोग मूल्य पैदा करता है, यानी, उसे उपयोगी बनाता है। कोई कारख़ाना या मशीन अपने से कच्चे मालों को एक उपयोगी माल का रूप नहीं दे सकते। जब तक कच्चे मालों पर मानसिक और शारीरिक मानवीय श्रम नहीं लगता, वे मूल्यहीन बेकार वस्तुएँ होती हैं। जैसे ही उस मज़दूर की मेहनत लगती है वे आकार ग्रहण करने लगते हैं और मिलकर एक उपयोगी वस्तु बन जाते हैं। जब कोई वस्तु उपयोगी होगी तभी उसे बाज़ार में कोई ख़रीदेगा। वस्तु में उपयोग मूल्य मज़दूर की मेहनत पैदा करती है। एक पूँजीवादी समाज में मज़दूर की श्रम-शक्ति भी एक माल होती है और वह भी बाज़ार में बिकती है। इसकी क़ीमत भी बाज़ार में श्रम-शक्ति की माँग और आपूर्ति से तय होती है। उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम-शक्ति ही वह कारक होती है जिसका मूल्य संवर्धित होकर, यानी बढ़कर माल में स्थानान्तरित होता है। इसीलिए श्रम-शक्ति को ख़रीदने के लिए पूँजीपति द्वारा लगायी गयी पूँजी को परिवर्तनशील पूँजी कहते हैं क्योंकि उत्पादन से पहले और उत्पादन के बाद इसका परिमाण बढ़ चुका होता है। यह बढ़ी हुई मात्रा अर्थशास्त्र की भाषा में अतिरिक्त मूल्य कहलाती है। यही अतिरिक्त मूल्य एक पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े का मूल होता है। यह पैदा मज़दूर के श्रम द्वारा होता है, लेकिन इसे पूँजीपति द्वारा हड़प लिया जाता है।

चूँकि अतिरिक्त मूल्य ही पूँजीपति के मुनाफ़े का मूल होता है, इसलिए वह उसे हर क़ीमत पर बढ़ाने का प्रयास करता है। इससे पूँजीपति वर्ग दो तरह से बढ़ाता है। एक, मज़दूर के काम के घण्टे को बढ़ाकर और उसकी मेहनत की सघनता को बढ़ाकर; और दूसरा, और अधिक उन्नत मशीनें लगाकर। पहले तरीक़े को समझना आसान है। अगर मज़दूर उसी मज़दूरी पर या थोड़ी-सी बढ़ी मज़दूरी पर अधिक देर तक काम करेगा तो अधिक अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा। यह एकदम सीधा मामला है। दूसरा तरीक़ा थोड़ा जटिल है। आइये इसे भी समझ लें। अगर उन्नत मशीनें लगेंगी तो मज़दूर का श्रम अधिक उत्पादक हो जायेगा और वह अधिक दर से अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिये कि एक सिलाई कारख़ाना है जहाँ मज़दूर पैर से चलने वाली सिलाई मशीन पर काम करते हैं। अभी एक मज़दूर 12 घण्टे में 10 कमीज़ें तैयार करता है। कारख़ाने का मालिक पैर से चलने वाली सिलाई मशीन को हटाकर बिजली से चलने वाली सिलाई मशीनें लगवा देता है। अब वही मज़दूर 12 घण्टे में 18 कमीज़ें बना लेता है। यानी मज़दूर के उत्पादन करने की गति को बढ़ा दिया गया। अब उत्पादन सीधे 1.8 गुना बढ़ गया। इसके लिए पूँजीपति को एक बार थोड़ा निवेश करना पड़ता है, लेकिन बदले में लम्बे समय तक वह बढ़ी हुई उत्पादकता पर काम करवा सकता है। इसके बदले में पूँजीपति मज़दूर को या तो कुछ नहीं देता और या फिर उनकी मज़दूरी को नाममात्र के लिए बढ़ा देता है। मज़दूर यह समझ भी नहीं पाता कि उसका शोषण बढ़ गया है और वह स्वयं कुछ पाये बिना पूँजीपति के मुनाफे को कहीं तेज़ गति से बढ़ा

(पेज 8 पर जारी)

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

(पेज 7 से आगे)

रहा है।

स्पष्ट है कि कुल निवेश में पूँजीपति लागत के अनुपात को घटाने के लिए अतिरिक्त मूल्य को विभिन्न तरीक़ों से बढ़ाता है। यह काम वह तभी कर सकता है जब वह उत्पादन को बड़े से बड़े पैमाने पर करे। उत्पादन जितने बड़े पैमाने पर होता है, लागत का अनुपात कुल निवेश में उतना कम होता जाता है। अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने के लिए पूँजीपति जिन तरीक़ों का उपयोग करता है, उससे उत्पादन स्वत: ही बड़े पैमाने पर होता जाता है। यानी, पूँजीपति लगातार इस होड़ में रहता है कि उत्पादन को अधिकतम सम्भव बड़े पैमाने पर किया जाये ताकि अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाया जा सके और लागत के अनुपात को कुल पूँजी निवेश में घटाया जा सके। लेकिन इस उत्पादन को बढ़ाने की अन्धी हवस में वह यह भूल जाता है कि उत्पाद को ख़रीदने के लिए बाज़ार में उतने ही ख़रीदार भी होने चाहिए। ऐसा किसी एक पूँजीपति के साथ नहीं बल्कि समूचे पूँजीपति वर्ग के साथ होता है। आपसी प्रतिस्पर्द्धा और एक-दूसरे को लील जाने की हवस में हर पूँजीपति हर वस्तु के उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादन को लाभदायक होने की हदों से आगे बढ़ाता जाता है और उस पूरे सेक्टर में ही अति-उत्पादन हो जाता है। यही प्रक्रिया सभी क्षेत्रों में घटित होती रहती है। और निश्चित अन्तरालों पर ऐसा होता है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अधिकांश क्षेत्र अति-उत्पादन का शिकार हो जाते हैं और पूरी अर्थव्यवस्था मन्दी का शिकार हो जाती है। यहाँ यह समझना भी ज़रूरी है कि पूँजीवादी उत्पादन की गति ही ऐसी होती है जो समाज में ख़रीदने की क्षमता से लैस लोगों की संख्या घटाती जाती है। पूँजीपति मज़दूर को लगातार लूटकर ही अपने मुनाफ़े को बढ़ाता है। जब वह उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्नत मशीनों को लगाता है तो मज़दूरों के एक हिस्से को वह निकाल बाहर करता है, क्योंकि अब कम मज़दूर ही उन्नत मशीनों पर उत्पादन को पहले के स्तर से आगे बढ़ा सकते हैं। इस प्रक्रिया में समाज में बेरोज़गारों की फ़ौज बढ़ती जाती है और बहुसंख्यक आबादी अपनी ख़रीदने की क्षमता से वंचित होती जाती है। इस तरह एक तरफ़ तो उत्पादन बढ़ता जाता है, बाज़ार सामानों से पटता जाता है और दूसरी तरफ़ उन्हें ख़रीदने वालों की संख्या लगातार घटती जाती है। यही है पूँजीवाद का संकट जो उसे निश्चित अन्तरालों पर, पहले से भी भयावह रूप में आकर सताता रहता है और उसे लगातार उसकी क़ब्र की ओर धकेलता रहता है। यह एक ऐसा संकट है जिससे पूँजीवादी व्यवस्था लाख चाहने पर भी निजात नहीं पा सकती है, क्योंकि एक योजनाबद्ध मानव-केन्द्रित व्यवस्था में ही इससे निजात मिल सकती है, जो उत्पादन के साधनों और समाज के पूरे ढाँचे पर मज़दूरों के साझे मालिकाने के ज़रिये ही सम्भव है। पूँजीवाद अगर ऐसा हो जायेगा तो वह पूँजीवाद रह ही नहीं जायेगा और इस व्यवस्था को चलाने वाला पूँजीपति वर्ग कभी भी अपने निजी मुनाफ़े को छोड़ नहीं सकता। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था को सिर्फ़ तबाह किया जा सकता है, इसे सुधारा नहीं जा सकता क्योंकि यह परस्पर प्रतिस्पर्द्धा, निजी मालिकाने और निजी मुनाफ़े पर टिकी हुई व्यवस्था है।

साम्राज्यवाद के दौर में पूँजीवाद

पूँजीवाद के इसी संकट ने मानवता को दो विश्वयुद्धों की ओर धकेला। 1870 के दशक के बाद से यूरोपीय देशों में पूँजीवाद भयंकर रूप से इस अति-उत्पादन के संकट का शिकार हो गया था। ब्रिटेन, फ़्रांस, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, स्पेन जैसे कुछ देशों के पास 18वीं शताब्दी के समय से ही स्थापित उपनिवेश थे जिनके कारण वे मालों के अति-उत्पादन को अपने देश के बाहर अपने उपनिवेशों में भी बेच पा रहे थे। साथ ही, मालों के अतिरिक्त अब लागत को और घटाने के लिए सस्ते श्रम को निचोड़ने के लिए पूँजी को भी इन उपनिवेशों में निर्यात कर रहे थे, यानी, वहीं पर कारख़ाने लगाकर गुलाम देशों के सस्ते श्रम को निचोड़ रहे थे। जल्दी ही, यह सम्भावना भी निश्शेष हो गयी और 1910 का दशक आते-आते विश्व पूँजीवाद फिर से अति-उत्पादन और मन्दी के संकट का शिकार हो गया। साथ ही, कई ऐसे यूरोपीय पूँजीवादी देशों की शक्ति का उदय हुआ जिनके पास उपनिवेश नहीं थे। ऐसे देशों में अगुआ था जर्मनी। इन देशों में पूँजीवाद के संकट के पैदा होने के साथ और इनकी आर्थिक और सैन्य ताक़त के पैदा होने के साथ विश्व पैमाने पर ग़रीब देशों की पूँजीवादी लूट के फिर से बँटवारे का सवाल पैदा हो गया। इसी सवाल को हल करने के लिए पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग ने पूरी दुनिया को पहले साम्राज्यवादी महायुद्ध में धकेल दिया। इसमें जर्मनी और उसके मित्र देशों को पराजय का सामना करना पड़ा। लेकिन इस युद्ध ने रूस की महान क्रान्ति के लिए भी उपजाऊ ज़मीन तैयार की। दरअसल, यही ज़मीन जर्मनी में भी तैयार हुई थी, लेकिन वहाँ के सामाजिक जनवाद की ऐतिहासिक ग़द्दारी और काउत्स्की के नेतृत्व में पूरी सामाजिक जनवादी पार्टी के साम्राज्यवादी पूँजीवाद की गोद में बैठ जाने के कारण वहाँ क्रान्ति नहीं हो सकी, हालाँकि जर्मनी का मज़दूर आन्दोलन रूस के मज़दूर आन्दोलन से अधिक शक्तिशाली और पुराना था। विश्वयुद्ध में जर्मनी और ऑस्ट्रिया-हंगरी की पराजय के बाद के दौर में रूस में समाजवाद के तहत वहाँ के मज़दूर वर्ग ने अभूतपूर्व तरक्की करके पूरी दुनिया के सामने एक अद्वितीय मॉडल खड़ा कर दिया। दूसरी ओर, पहले विश्वयुद्ध में हथियार बेचकर और ऋण देकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने ज़बरदस्त मुनाफ़ा कमाया। लेकिन एक दशक बीतते-बीतते संयुक्त राज्य अमेरिका में ही पूँजीवाद के अब तक के सबसे बड़े संकट का उदय हुआ जिसे महान मन्दी के नाम से जाना जाता है। 1929 से लेकर 1931 तक चली। इस मन्दी ने रूस को छोड़कर दुनिया के सभी देशों को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। विशेष रूप से, अमेरिका और यूरोपीय देशों को। इस मन्दी के बाद ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद ने मज़बूती से पैर जमा लिये। महामन्दी ने जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद को कैसे पैदा और मज़बूत किया, अन्य देशों में फ़ासीवाद पाँव क्यों नहीं जमा पाया, इन सवालों पर हम आगे विचार करेंगे। पहले, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संकट के इतिहास पर, कुछ शब्द और।

द्वितीय विश्वयुद्ध में सबसे कम नुक़सान संयुक्त राज्य अमेरिका को हुआ और सबसे अधिक नुक़सान सोवियत रूस को। पूरा यूरोप भी खण्डहर में तब्दील हो चुका था। अमेरिका ने यूरोप और जापान के पुनर्निर्माण के ज़रिये निवेश की सम्भावनाओं का उपयोग किया और अपनी मन्दी को कम-से-कम तीस वर्षों के लिए टाल दिया। 1950 से लेकर 1970 तक अमेरिकी पूँजीवाद ने खूब मुनाफ़ा पीटा। 1960 के दशक को तो अमेरिका में 'स्वर्ण युग' के नाम से जाना जाता है। अति-उत्पादन के संकट को दूर करने के लिए पूँजीवाद के दायरे के भीतर एक ही विकल्प होता है – उत्पादक शक्तियों का बड़े पैमाने पर विनाश ताकि उनके पुनर्निर्माण के लिए बड़े पैमाने पर सम्भावनाएँ पैदा की जा सकें। यह विनाश समय-समय पर साम्राज्यवादी युद्धों के ज़रिये किया जाता है। 1970 का दशक आते-आते विश्व पूँजीवाद एक बार फिर संकट का शिकार हुआ। इसके बाद वह उबरा ही था कि 1980 के दशक के मध्य में फिर से मन्दी ने उसे ग्रस लिया। इसके बाद भूमण्डलीकरण की नीतियों की शुरुआत के साथ विश्व साम्राज्यवाद ने एक नये चरण में प्रवेश किया। भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजीवाद ने मन्दी को दूर करने के लिए एक नयी रणनीति का उपयोग किया। वित्तीय पूँजी के प्रभुत्व के इस दौर में पूँजी की प्रचुरता और मन्दी के दोमुँहे संकट को दूर करने के लिए बैंकों के ज़रिये उपभोक्ताओं को ऋण देने की शुरुआत की गयी। मध्यम वर्ग तक के लोगों को माल ख़रीदने के लिए ऋण देने की प्रथा को विश्वभर में बड़े पैमाने पर शुरू किया गया। यानी पहले लोगों को ख़रीदने की ताक़त से वंचित करके बाज़ार को मालों से पाट दिया गया और फिर जब ख़रीदार नहीं बचे तो ख़ुद ही सूद पर लोगों को पैसा देकर वह माल ख़रीदवाया गया, ताकि मन्दी को कुछ समय के लिए टाला जा सके। लेकिन जल्दी ही मध्यवर्ग के भीतर ऋण देकर माल ख़रीदवाने की सम्भावनाएँ समाप्त हो गयीं। इसके बाद, तमाम ऐसे लोगों को भी ऋण देने की शुरुआत की गयी जो उसका सूद चुकाने की क्षमता भी नहीं रखते थे, ताकि अस्थायी रूप से मन्दी का संकट दूर हो सके। जल्दी ही यह सम्भावना भी ख़त्म हो गयी और अब 2006 में शुरू हुई मन्दी के रूप में पूँजीवाद के सामने महामन्दी के बाद का सबसे बड़ा संकट खड़ा है, जिससे निपटने के लिए विश्व भर के पूँजीवादी महाप्रभु द्रविड़ प्राणायाम करने में लगे हुए हैं।

संक्षेप में, पूँजीवाद अपने स्वभाव से ही संकट को समय-समय पर जन्म देता रहता है। संकट से निपटने के लिए युद्ध पैदा किये जाते हैं। लेकिन यह एक अस्थायी समाधान होता है और बेताल फिर से आकर पुरानी डाल पर ही लटक जाता है। साम्राज्यवाद के दौर में विश्व पूँजीवाद ने अपनी कार्यप्रणाली को बदला लेकिन सवा सौ साल बीतते-बीतते उसकी हवा निकल गयी और वह फिर से उसी असमाधेय संकट के सामने खड़ा है।

पूँजीवादी संकट की सम्भावित प्रतिक्रियाएँ

संकट के दौर में बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ती है। संकट के दौर में अति-उत्पादन होने और उत्पादित सामग्री के बाज़ारों में बेकार पड़े रहने के कारण पूँजीपति का मुनाफ़ा वापस नहीं आ पाता है और माल के रूप में बाज़ार में अटका रह जाता है। नतीजतन, पूँजीपति अधिक उत्पादन नहीं करना चाहता है और उत्पादन में कटौती करता है। इसके कारण वह उत्पादन में निवेश को घटाता है, कारख़ाने बन्द करता है, मज़दूरों को निकालता है। 2006 में शुरू हुई मन्दी के कारण अकेले अमेरिका में करीब 85 लाख लोग जून 2009 तक बेरोज़गार हो चुके हैं। भारत में मन्दी की शुरुआत के बाद करीब 1 करोड़ लोग अपनी नौकरियों से हाथ धो चुके हैं। बेरोज़गारों की संख्या में पूरे विश्व में करोड़ों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। इसके कारण न सिर्फ़ तीसरी दुनिया के ग़रीब पिछड़े पूँजीवादी देशों में बल्कि यूरोप के देशों में भी दंगे हो रहे हैं। यूनान, फ़्रांस, इंग्लैण्ड, आइसलैण्ड, आदि देशों में पिछले दिनों हुए दंगे और आन्दोलन इसी मन्दी का असर हैं। इस मन्दी के कारण पैदा हुए जन-असन्तोष का पूरे विश्व के पूँजीवादी देशों में शासक वर्ग का जो जवाब सामने आया है उसमें कुछ भी नया नहीं है। यह जवाब है कल्याणकारी राज्य का कीन्सियाई नुस्खा। यह "कल्याणकारी" राज्य क्या करता है, इसे भी समझना ज़रूरी है।

मन्दी के कारण जो वर्ग सबसे पहले तबाह होते हैं, वे हैं मज़दूर वर्ग, ग़रीब और निम्न मध्यम किसान, खेतिहर मज़दूर वर्ग, शहरी निम्न मध्यम वर्ग और आम मध्यम वर्ग। यह कुल जनता का करीब 90 प्रतिशत होते हैं। इसके अतिरिक्त, छोटे व्यापारियों और दलालों का भी एक वर्ग इसमें तबाह होता है। इसके कारण पूरे समाज में ही 90 प्रतिशत बहुसंख्यक आबादी के लिए एक भयंकर आर्थिक और सामाजिक असुरक्षा का माहौल पैदा होता है। इसके कारण भारी पैमाने पर व्यापक और सघन जन-असन्तोष पैदा होता है जो पूरी व्यवस्था के लिए ही एक ख़तरा साबित हो सकता है। इस ख़तरे से निपटने के लिए 1930 के दशक में पूँजीवाद के एक कुशल हकीम जॉन मेनॉर्ड कीन्स ने बताया कि अराजकतापूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था को थोड़ा-थोड़ा व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है। अगर निजी प्रतिस्पर्द्धा वाले पूँजीवाद और इजारेदारियों को मुक्त बाज़ार में खुल्ला छोड़ दिया जायेगा तो पूँजी की अराजक गति आत्मघाती रूप से ऐसे हालात पैदा कर देगी जो पूँजीवाद को ही निगल जायेंगे। इसलिए थोड़ा संयम बरतने की ज़रूरत है। इस व्यवस्थापन के काम को पूँजीवाद राज्य को अंजाम देना होगा। इसे कुछ ऐसी नीतियों में निवेश करना होगा जो लोगों को थोड़ा सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा का आभास कराये। मिसाल के तौर पर, सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) को खड़ा करके उसमें रोज़गार देना होगा; बीमा योजनाएँ लागू करनी होंगी; कुछ अवसंरचनागत क्षेत्र जैसे परिवहन, संचार, आदि को सरकार को अपने हाथ में रखना होगा; निजी क्षेत्र पर कुछ लगाम रखनी होगी; लोगों को आवास आदि की कुछ योजनाएँ देनी होंगी; मज़दूरों की मज़दूरी को थोड़ा बढ़ाना होगा, आदि। यानी कुछ सुधार के क़दम जो कुछ समय के लिए लोगों के असन्तोष पर ठण्डे पानी का छिड़काव कर सकें। ऐसे काम करने वाले राज्य को ही "कल्याणकारी" राज्य कहा जाता है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह कल्याणकारी राज्य पूँजीवाद के दूरगामी कल्याण के लिए और जनता के मन में फ़ौरी कल्याण का एक झूठा अहसास पैदा करने के लिए खड़ा किया जाता है।

लेकिन इस कल्याणकारी राज्य के साथ दिक़्क़त यह होती है कि इसके अपने ख़र्चे बहुत होते हैं। तमाम कल्याणकारी नीतियों को लागू करने के लिए सरकार को पूँजीपतियों के मुनाफ़े पर थोड़ी लगाम कसनी पड़ती है और मज़दूरों को थोड़ी रियायतें और छूट देनी पड़ती है। जिन देशों में पूँजीवाद सामन्तवाद विरोधी क्रान्तियों के ज़रिये आया और जहाँ पूँजीवाद विकास की एक गहरे तक पैठी हुई लम्बी प्रक्रिया सामने आयी, वहाँ पर पूँजीपति वर्ग आर्थिक रूप से इस हालत में था कि कल्याणकारी राज्य के "ख़र्चे उठा सके" और राजनीतिक रूप से भी इतना चेतना-सम्पन्न था कि कल्याणकारी राज्य को कुछ समय तक चलने दे और कुछ इन्तज़ार के बाद, दोबारा "छुट्टा साँड ब्राण्ड" पूँजीवाद की शुरुआत करे। जिन देशों में पूँजीवाद किसी क्रान्तिकारी बदलाव के ज़रिये नहीं, बल्कि एक क्रमश: प्रक्रिया में आया वहाँ कल्याणकारी राज्य के कुछ और ही नतीजे सामने आये। इन देशों में जर्मनी और इटली अग्रणी थे। जर्मनी का पूँजीवाद में संक्रमण किसी पूँजीवादी क्रान्ति के ज़रिये नहीं हुआ। वहाँ पर क्रान्तिकारी भूमि सुधार नहीं लागू हुए, बल्कि सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी भूस्वामी में तब्दील हो जाने का मौक़ा दिया गया। औद्योगिक पूँजीपति वर्ग राज्य द्वारा दी गयी सहायता के बूते खड़ा हुआ, न कि एक लम्बे पूँजीवादी विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया से, जैसाकि इंग्लैण्ड और फ़्रांस में हुआ था। यहाँ के पूँजीपति वर्ग, कुलकों और धनी किसानों की कल्याणकारी राज्य के नतीजों पर इंग्लैण्ड, अमेरिका, और फ़्रांस के पूँजीपति वर्ग से बिल्कुल भिन्न प्रतिक्रिया रही। इन शासक वर्गों की अलग क़िस्म की प्रतिक्रिया ने जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उदय की ज़मीन तैयार की। इसके अतिरिक्त, एक और कारक था जिसने फ़ासीवाद के उभार में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। यह कारक था जर्मनी और इटली के सामाजिक जनवादी आन्दोलन की ग़द्दारी और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का पूँजीवाद की चौहद्दियों के भीतर ही घूमते रह जाना। जर्मनी की सामाजिक जनवादी पार्टी के नेतृत्व

(शेष पेज 11 पर)

चीन के नये पूँजीवादी शासकों के ख़िलाफ़ 4 जून, 1989 को त्येनआनमेन पर हुए जनविद्रोह के बर्बर दमन की 20वीं बरसी पर

सन 1989 के जून महीने की 4 तारीख़ को पूरी दुनिया चीन के बीजिंग शहर में सड़कों पर उतरी आम मेहनतकश जनता और छात्रों के आन्दोलन को संशोधनवादी सेना द्वारा कुचले जाने की गवाह बनी थी। बीजिंग के त्येनआनमेन चौक पर हुए उस बर्बर दमन को पश्चिमी पूँजीवादी मीडिया ने कम्युनिस्टों द्वारा लोकतन्त्र समर्थकों के दमन के रूप में प्रचारित किया और अब तक यही करता रहा है, जबकि वह एक जनविद्रोह था। उसमें माओ की शिक्षाओं को मानने वाले क्रान्तिकारियों के साथ ही वे मज़दूर भी शामिल थे, जो राज्य और पार्टी पर क़ाबिज़ पूँजीवादी पथगामियों की नीतियों के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरे थे। उनके हाथों में माओ की तस्वीरों वाली तख़्तियाँ रहती थीं और ज़बान पर माओ के समर्थन में नारे। इस दमन का शिकार होने वाले हज़ारों लोगों में से अधिकांश वे मज़दूर और छात्र थे, जो माओ के समर्थक और देङपन्थियों के विरोधी थे।

हालाँकि, इस आन्दोलन की शुरुआत उन बुर्जुआ बुद्धिजीवियों और शहरी मध्यवर्ग ने की थी, जो माओ की मौत के बाद सत्ता पर क़ाबिज़ हुए संशोधनवादियों से सत्ता की बन्दरबाँट के लिए अपनी ताक़त का प्रदर्शन करना चाहते थे। लेकिन इस आन्दोलन में क्रान्तिकारियों और मज़दूरों के शामिल होने से केवल चीन के नक़ली कम्युनिस्ट ही नहीं, बल्कि ख़ुद वे बुद्धिजीवी भी घबरा गये थे, क्योंकि वास्तव में वे भी उतने ही मज़दूर विरोधी थे जितने कि संशोधनवादी। संशोधनवादियों ने सेना का प्रयोग करके इस आन्दोलन को बुरी तरह कुचल दिया था। लोकतन्त्र, अभिव्यक्ति की आज़ादी आदि का हल्ला मचाते हुए राजकीय पूँजीपतियों से सत्ता में हिस्सा माँगने वाले अनेक बुर्जुआ छात्र-बुद्धिजीवी दमन से पहले ही देश छोड़कर भाग गये थे और जो उस समय नहीं भाग सके थे वे बाद में रफ़ूचक्कर हो गये। आज इस घटना के बीस वर्षों के बाद भी चीन में जारी वर्ग संघर्ष और जगह-जगह होने वाले प्रदर्शनों-आन्दोलनों से माओ का यह कहना सच साबित होता है कि "चीन में यदि पूँजीवादी पथगामी पूँजीवाद की पुनर्स्थापना में सफल हो भी गये तो भी वे कभी चैन की नींद नहीं सो सकेंगे और उनका शासन सम्भवत: थोड़े समय तक ही टिक पायेगा, क्योंकि यह उन क्रान्तिकारियों द्वारा बर्दाश्त नहीं किया जा सकेगा, जो पूरी आबादी के 90 प्रतिशत से भी ज़्यादा लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

सत्ता की बन्दरबाँट के लिए शुरू हुआ था आन्दोलन

माओ की मौत के बाद सत्ता पर क़ाबिज़ हुए संशोधनवादियों ने सत्ता पर मज़बूत पकड़ बनाते ही 1980 में तथाकथित सुधारों की शुरुआत कर दी थी, जो राज्य और पार्टी में बैठे नक़ली कम्युनिस्टों द्वारा पूँजीवादी नीतियों की राह अपनाने के सिवाय कुछ नहीं था। और पूँजीवाद समर्थक बुद्धिजीवी इन नीतियों के ज़रिये अपना स्वर्ग बनाने की आस लगाये बैठे थे। चीन में उस समय यूनिवर्सिटी के टीचरों, इंजीनियरों, लेखकों, कलाकारों और शहरी मध्यवर्ग के रूप में उभरने वाले यूनिवर्सिटी के छात्रों सहित हर उस व्यक्ति को बुद्धिजीवी कहा जाता था जो उच्च शिक्षा प्राप्त था। 1949 की चीनी क्रान्ति के बाद अनेक बुद्धिजीवियों ने सर्वहारा वर्ग का पक्ष चुना था, पारम्परिक रूप से सुविधाभोगी सम्पन्न सामाजिक तबक़े से सम्बन्ध रखने वाले अनेक बुद्धिजीवी क्रान्ति (विशेष तौर पर सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति) से नफ़रत करते थे और मज़दूरों तथा किसानों के प्रति अपनी नफ़रत ज़ाहिर करते रहते थे। दरअसल, चीन की नयी जनवादी क्रान्ति से लेकर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति तक ऐसे बुद्धिजीवियों की सुविधाओं में कटौती हो गयी थी और 1980 के दौर के अधिकांश चीनी बुद्धिजीवी क्रान्ति पूर्व के पूँजीपति वर्ग या ज़मींदार वर्ग से आये थे।

ये बुर्जुआ बुद्धिजीवी पूँजीवादी नीतियों के समर्थक थे और उम्मीद करते थे कि सामाजिक और आर्थिक असमानता बढ़ने पर उनकी भौतिक सुविधाओं में भी बढ़ोत्तरी होगी। उन्हें आशा थी कि विश्व पूँजीवादी बाज़ार में प्रवेश से उन्हें पूँजीवादी देशों में जाने या बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में काम करके ऊँची आय कमाने के अधिक अवसर प्राप्त होंगे, जिससे वे पूँजीवादी देशों के बुद्धिजीवियों की बराबरी कर सकेंगे। 1980 के अन्त तक वे खुले आम पूरी तरह निजीकरण करने और मुक्त बाज़ार की पूँजीवादी व्यवस्था क़ायम करने की वक़ालत करने लगे।

हालाँकि, पूँजीवादी नीतियों को लेकर संशोधनवादियों और इन बुर्जुआ बुद्धिजीवियों में कोई मतभेद नहीं था, लेकिन उनके बीच इस बारे में कोई सहमति नहीं बन पायी कि समाजवादी उपलब्धियों के पूँजीवादी रूपान्तरण से मिलने वाली राजनीतिक ताक़त और आर्थिक लाभ को आपस में कैसे बाँटा जाये। बुर्जुआ बुद्धिजीवी इस बात से असन्तुष्ट थे कि तथाकथित सुधारों के बाद पैदा हुआ धन राजकीय पूँजीपतियों और निजी उद्यमियों के पास इकट्ठा हो रहा था, लेकिन उन्हें हाल ही में पैदा हुई इस पूँजीवादी लूट में बराबर का भागीदार नहीं बनाया जा रहा था।

यही थी इन बुर्जुआ बुद्धिजीवियों द्वारा "स्वतन्त्रता और जनवाद" की माँग की बुनियाद। वास्तव में चीन का शहरी मध्यवर्ग देश के पूँजीवादी राह पर बढ़ने के साथ ही शक्ति और धन में अधिक साझेदारी की माँग कर रहा था। कुछ बुर्जुआ बुद्धिजीवियों ने जापान, ताइवान, सिंगापुर जैसे पूँजीवादी मॉडल की मुखर माँग की, जो मज़दूर वर्ग के लिए तो दमनकारी हो, लेकिन पूँजीपतियों के लिए "सम्पत्ति के अधिकार" और इन बुद्धिजीवियों के लिए "नागरिक स्वतन्त्रता" की गारण्टी देता हो।

इधर विश्व पूँजीवादी तन्त्र में टिके रहने और स्थिति मज़बूत करने के लिए ज़रूरी था कि संशोधनवादी मज़दूरों को प्राप्त रहे-सहे अधिकार भी छीन लें और बेरोज़गारों की फ़ौज तैयार करें, जिसे निचोड़कर पूँजी संचय की रफ़्तार तेज़ की जा सके। और 80 के मध्य तक आते-आते तथाकथित सुधारों की रफ़्तार तेज़ कर दी गयी। अब मज़दूरों को बाज़ार समाजवाद के नाम पर शुरू की गयी नीतियों की असलियत पता चलने लगी थी और उनकी स्थिति बदतर होती जा रही थी, साथ ही उनके सारे अधिकारों को एक-एक करके छीना जा रहा था। समाजवादी दौर में वे जिन फ़ैक्टरियों के मालिक हुआ करते थे, वहाँ अब वे केवल मज़दूरी करके अपना पेट पाल सकते थे। सामूहिक खेती, स्वास्थ्य, आवास, शिक्षा आदि की सुविधाएँ एक-एक करके ध्वस्त की जा रही थीं। इन सब वजहों से उनमें रोष था और वे धीरे-धीरे कम्युनिस्ट नामधारी पार्टी तथा राज्य पर क़ाबिज़ संशोधनवादियों से नफ़रत करने लगे थे।

इन स्थितियों में बुद्धिजीवियों ने "स्वतन्त्रता और जनवाद" की माँग को लेकर छात्रों को एकजुट करना शुरू कर दिया, ताकि अपने साथ छात्रों की ताक़त दिखाकर वे लूट में हिस्सा देने के लिए संशोधनवादियों को बाध्य कर सकें।

पूँजीवादी नीतियों से तबाह मज़दूर भी शामिल हुए

1989 से पहले भी उन्होंने छात्रों के आन्दोलन के ज़रिये शक्ति प्रदर्शन का प्रयास किया जिसे पश्चिम पूँजीवादी मीडिया ने हाथों-हाथ लिया और प्रचारित किया कि चीन के छात्र और आम जनता कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ एकजुट हो रहे हैं। लेकिन आम जनता का समर्थन हासिल न होने के कारण इन आन्दोलनों का व्यापक असर नहीं हुआ। फिर 1989 के अप्रैल महीने के मध्य में बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के आह्वान पर बीजिंग के छात्र सड़कों पर उतर आये। शुरुआत में इन आन्दोलकारियों की संख्या कुछ हज़ार थी। लेकिन धीरे-धीरे कारख़ानों के मज़दूर और आम जनता भी स्वत:स्फूर्त ढंग से इसमें शामिल होने लगे। ये आन्दोलनकारी जहाँ से गुज़रते वहाँ के कारख़ानों के मज़दूर इनके साथ हो लेते। दिन बीतने के साथ-साथ और मज़दूरों के शामिल होने के कारण आन्दोलनकारियों की संख्या बढ़कर कई लाख हो गयी। अब जुलूसों में माओ के उद्धरणों की किताब और माओ की तस्वीरों वाली तख़्तियाँ भी दिखने लगीं, जिनकी संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थी। तियेनआनमेन चौक इन प्रदर्शनों का केन्द्र बन चुका था जहाँ लाखों प्रदर्शनकारी डटे रहते थे।

उधर, इस आन्दोलन में मज़दूरों और आम जनता की भागीदारी से लूट के माल में भागीदारी के इच्छुक घबराने लगे थे, क्योंकि वे मज़दूरों और किसानों से उतनी ही नफ़रत करते थे जितनी नफ़रत संशोधनवादी और मालिकों की अन्य जमातें करती थीं। वे डरे हुए थे, क्योंकि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान मेहनतकशों की एकजुटता ने उन्हें पीछे हटने को मजबूर किया था और उनके विशेषाधिकार छीन लिये थे। 17 मई से पहले तक जब मज़दूर बड़ी संख्या में इस आन्दोलन में शामिल नहीं हुए थे, बुर्जुआ बुद्धिजीवी और छात्र केवल सरकार से बातचीत के लिए आगे आने की माँग कर रहे थे। लेकिन छात्रों के समर्थन में मज़दूर भी सड़कों पर उतरने लगे तो वे कहने लगे कि संगठित हुए बिना भी हम "शान्तिपूर्ण और तार्किक" तरीक़ों से इन आन्दोलनों के लक्ष्यों को हासिल कर सकते हैं, वे कहने लगे कि सफलता मिले या न मिले हमें इन "शान्तिपूर्ण और तार्किक" तरीक़ों को नहीं छोड़ना चाहिए।

जैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ने लगा ये बुर्जुआ बुद्धिजीवी पीछे हटने लगे, इनके इशारों पर नाचने वाले छात्र आन्दोलन को आगे बढ़ने से रोकने का प्रयास करने लगे। लेकिन असन्तोष बढ़ता गया और अन्तत: मज़दूरों और आम जनता से घबराकर संशोधनवादियों ने सेना को यह आन्दोलन कुचलने के आदेश दे दिये। फिर भी, पहली बार, व्यापक आबादी के सड़कों पर उतर आने के कारण सेना बीजिंग शहर में नहीं घुस सकी। मज़दूरों और आम जनता तथा क्रान्तिकारी छात्रों ने शहर में घुसने के सारे रास्ते जाम कर दिये। वे लोग टैंकों के आगे खड़े हो गये। मजबूरन सेना को पीछे हटना पड़ा। इसके बावजूद, यह नहीं कहा जा सकता कि आम आबादी और मज़दूर उस समय संगठित थे और क्रान्तिकारी ताक़तें उनका नेतृत्व कर रही थीं। यह सब स्वत:स्फूर्त ढंग से हो रहा था। 3 जून को जब दोबारा सेना के आने की ख़बर मिली तो प्रदर्शनकारियों ने शहर में प्रवेश के चारों प्रमुख रास्ते जाम कर दिये। जगह-जगह बैरीकेड लगा दिये गये और बसें जलाकर रास्ते में खड़ी कर दी गयीं। लेकिन ज़बरदस्त प्रतिरोध के बावजूद वे सेना को नहीं रोक सके और वह सैकड़ों लोगों को मौत के घाट उतारते हुए रात तक प्रदर्शन और आन्दोलन के केन्द्र त्येनआनमेन चौक तक पहुँच गयी। 4 जून की सुबह सेना ने त्येनआनमेन चौक पर जमा लाखों प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ चला दीं और तोप से हमला किया। हज़ारों मज़दूर और छात्र मारे गये, जबकि कई बुर्जुआ बुद्धिजीवी और उनके समर्थक छात्र वहाँ से निकल भागे। सेना ने चौक को ख़ाली कराकर उस पर क़ब्ज़ा कर लिया था। अगली सुबह जब कुछ प्रदर्शनकारियों ने चौक में प्रवेश करने का प्रयास किया तो सैनिकों की तोपें और बन्दूकें फिर गरज उठीं। आन्दोलन को कुचल दिया गया था। दसियों हज़ार की संख्या में आम मेहनतकश आबादी मारी गयी थी और त्येनआनमेन चौक ख़ून से रँग गया था।

संशोधनवादियों की बर्बरता का कम्युनिस्टों के कारनामों के रूप में प्रचार

इस घटना के तुरन्त बाद दुनियाभर के पूँजीवादी देशों और मीडिया ने प्रचारित करना शुरू किया कि चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने लोकतन्त्र समर्थक आन्दोलन का बर्बर दमन किया। पूँजीवादी मीडिया ने यह नहीं बताया कि इस बर्बर दमन में हज़ारों की संख्या में मज़दूरों और छात्रों की मौत हुई लेकिन पश्चिमी मीडिया मज़दूरों की भागीदारी तथा संशोधनवादी सरकार के प्रति उनके असन्तोष को दबा गया और इसे मात्र लोकतन्त्र के समर्थन में चलने वाले आन्दोलन को कम्युनिस्टों द्वारा कुचले जाने के रूप में प्रचारित किया। यह चीज़ जान-बूझकर छिपायी गयी कि उस आन्दोलन में भारी संख्या आम मेहनतकश आबादी और क्रान्तिकारी छात्रों की थी, जिनके हाथ में माओ की तस्वीरों वाली तख़्तियाँ थीं। वे कम्युनिस्ट होने का ढोंग करने वाली संशोधनवादी पार्टी का विरोध कर रहे थे। यदि वे नहीं होते तो यह आन्दोलन इतना फैलता ही नहीं।

आने वाले समय में ऐसे अनेक विद्रोहों के संकेत

मौजूदा दौर में चीन से जो छिटपुट ख़बरें आ रही हैं, उनसे पता चलता है माओ ने जो कहा था वह सच साबित हो रहा है। जनता अब बाज़ार समाजवाद की असलियत जान चुकी है। वहाँ लगातार असमानता, ग़रीबी, बेरोज़गारी बढ़ रही है, किसी समय चीनी समाज के निर्माता कहे जाने वाले मज़दूरों के साथ जानवरों जैसा व्यवहार किया जा रहा है। उन्हें बुनियादी सुविधाएँ तक प्राप्त नहीं हैं। सामूहिक खेती और स्वास्थ्य की व्यवस्था नष्ट हो चुकी है। चीन के मज़दूर वर्ग में व्याप्त असन्तोष और आक्रोश के समय-समय पर और जगह-जगह फूट पड़ने वाले लावे को व्यवस्था परिवर्तन की दिशा देने के लिए आज फिर माओ की शिक्षाओं को याद किया जा रहा है। पूरे चीन के पैमाने पर क्रान्तिकारी गतिविधियों के संकेत समय-समय पर मिलते रहते हैं। लगभग दो वर्ष पहले ही माओ के विचारों के समर्थन में पर्चे बाँटने के कारण चार मज़दूर कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार किया गया था, जिसके विरोध में चीन के अनेक माओ समर्थक बुद्धिजीवियों ने भी आवाज़ बुलन्द की थी। इसके अलावा भी क्रान्तिकारी विचारों को मानने वाले कई संगठन पूरे चीन में मज़दूरों को जागृत, गोलबन्द और संगठित करने और माओ की शिक्षाएँ उन तक पहुँचाने का लगातार प्रयास कर रहे हैं। इससे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि आने वाला समय चीन में तूफ़ानी उथल-पुथल का दौर होगा और पूँजीवादी पथगामी वाक़ई चैन से नहीं बैठ सकेंगे।

अदम्य बोल्शेविक – नताशा

एक स्त्री मज़दूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी (छठी क़िश्त)

एल. काताशेवा

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लिए मज़दूरों को संगठित, शिक्षित और प्रशिक्षित करने के लिए हज़ारों बोल्शेविक कार्यकर्ताओं ने बरसों तक बेहद कठिन हालात में, ज़बरदस्त क़ुर्बानियों से भरा जीवन जीते हुए काम किया। उनमें बहुत बड़ी संख्या में महिला बोल्शेविक कार्यकर्ता भी थीं। ऐसी ही एक बोल्शेविक मज़दूर संगठनकर्ता थीं नताशा समोइलोवा जो आख़िरी साँस तक मज़दूरों के बीच काम करती रहीं। हम 'बिगुल' के पाठकों के लिए उनकी एक संक्षिप्त जीवनी का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि आम मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। – सम्पादक

नताशा, स्त्री मज़दूर और अक्टूबर क्रान्ति।

"हमे यूरोप की मौजूदा शमशान-जैसी नीरवता के धोखे में नहीं आना चाहिए", लेनिन ने कहा। "यूरोप क्रान्तिकारी भावना से आवेशित है। साम्राज्यवादी युद्ध की राक्षसी भयावहता, महँगाई से पैदा हुई बदहाली, हर जगह क्रान्तिकारी भावना को जन्म दे रही है। और सत्ताधारी वर्ग, अपने चाकरों के साथ बुर्जुआ वर्ग, सरकारें अधिकाधिक एक अन्धी गली की तरफ़ बढ़ रही हैं, जहाँ से ज़बरदस्त उथल-पुथल के बिना वे कभी भी बाहर नहीं निकल सकतीं।

"ठीक वैसा ही जैसाकि 1905 में रूस में एक जनवादी गणराज्य की स्थापना के लक्ष्य के साथ सर्वहारा के नेतृत्व में ज़ारशाही शासन के ख़िलाफ़ एक आम बग़ावत हुई थी, आने वाले वर्षों में, यूरोप में भी, इसी परभक्षी युद्ध की वजह से सर्वहारा के नेतृत्व में वित्तीय पूँजी की शक्ति के ख़िलाफ़, बड़े बैंकों के ख़िलाफ़, पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ आम बग़ावतें होंगी और समाजवाद की विजय के बिना, बुर्जुआ वर्ग के स्वामित्वहरण के बिना इन विप्लवों का अन्त नहीं होगा।"

(1905 की क्रान्ति पर लेनिन का भाषण, लेनिन, संकलित रचनाएँ, खण्ड 19)

लेनिन ने ये बातें 1917 की जनवरी में कही थीं। उसी साल 23 फ़रवरी को मेहनतकश जनता का एक आन्दोलन शुरू हुआ – एक ऐसा आन्दोलन जिसे 1914 में अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद ने बाधित कर दिया था। युद्ध ने मामले को सिर्फ़ टाल दिया था, और इस देरी से बेड़ियाँ और भी कस गयीं। आन्दोलन की शुरुआत एक उच्चतर धरातल, एक व्यापक आधार पर हुई। 12 मार्च को जब लेनिन अभी जेनेवा में ही थे, आगामी घटनाक्रमों के बारे में उनका निम्न आकलन था :

"उन समाजवादियों की भविष्यवाणी सच साबित हुई जो युद्ध की नृशंस और पाशविक भावना से अप्रभावित रहकर समाजवाद के प्रति वफ़ादार बने रहे। विभिन्न देशों के पूँजीपतियों के बीच छिड़ गये विश्वव्यापी परभक्षी युद्ध के चलते पहली क्रान्ति फूट पड़ी। साम्राज्यवादी युद्ध, यानी पूँजीपतियों द्वारा लूट के माल के बँटवारे के लिए, कमज़ोर जनता को कुचलने के लिए छिड़ा युद्ध, गृहयुद्ध में, अर्थात एक ऐसे युद्ध में तब्दील होने लगा जो पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ मज़दूरों का, ज़ारों और राजाओं, ज़मींदारों और पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ मेहनतकशों और उत्पीड़ितों का युद्ध था, युद्धों से मानवता की, ग़रीबी से जनता की और इन्सान के हाथों इन्सान के शोषण से सम्पूर्ण मुक्ति का युद्ध था।

"क्रान्ति का, यानी अकेला विधिसंगत, न्यायोचित और महान युद्ध का, उत्पीड़कों के ख़िलाफ़ उत्पीड़ितों के यद्ध का, प्रणेता होने का गौरव और सौभाग्य रूसी मज़दूरों को मिला है।

"पेत्रोग्राद के मज़दूरों ने ज़ारशाही राज को उखाड़ फेंका है। पुलिस और ज़ार की सेनाओं के ख़िलाफ़ अपने साहसिक युद्ध में, मशीनगनों के सामने निहत्थे मज़दूरों ने बग़ावत की शुरुआत कर पेत्रोग्राद की दुर्ग सेना के अधिकांश सिपाहियों को अपनी तरफ़ कर लिया। मास्को और दूसरे शहरों में भी यही हुआ। अपनी सेनाओं द्वारा ठुकराये गये ज़ार को आत्मसमर्पण करना पड़ा – उसने अपने और अपने बेटे के राजगद्दी छोड़ने के काग़ज़ पर हस्ताक्षर किये। उसने प्रस्ताव रखा कि राजगद्दी उसके भाई माइकेल के हवाले कर दी जाये।

"विद्रोह की अत्यन्त द्रुतगति के चलते, अंग्रेज़-फ़्रांसीसी पूँजीपतियों की सीधी मदद के चलते, पेत्रोग्राद के मज़दूरों, जनता के बीच पर्याप्त वर्गीय चेतना के अभाव के चलते, तथा रूसी ज़मींदारों और पूँजीपतियों के संगठन और तैयारी के चलते पूँजीपति राजसत्ता पर क़ब्ज़ा करने में कामयाब रहे।" (लेनिन, रूस में क्रान्ति और सभी देशों के मज़दूरों के कार्य, संकलित रचनाएँ, खण्ड 20, पृष्ठ 64)

1917 में ज़ारशाही का तख़्ता पलटे जाने के बाद बनी केरेंस्की की अन्तरिम सरकार को लेनिन ने इसी तरह परिभाषित किया था।

दरअसल, मज़दूर इस तरह की सरकार पर विश्वास नहीं कर सके। मज़दूरों ने रोटी, अमन और आज़ादी की ख़ातिर लड़ते हुए राजतन्त्र को उखाड़ फेंका था। पेत्रोग्राद के मज़दूरों ने ज़ारशाही को पराजित करने के फ़ौरन बाद, स्वयं अपना संगठन – मज़दूर प्रतिनिधियों की सोवियतें – बनाया और उसे तत्काल संगठित व विस्तारित करना तथा सैनिकों और किसानों के प्रतिनिधियों की स्वतन्त्र सोवियतों का गठन करना शुरू कर दिया।

इत्तेफ़ाक़ से फ़रवरी क्रान्ति का पहला दिन अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस का दिन भी था। युद्ध ने स्त्री मज़दूरों और किसानों की भारी आबादी को रूसी जीवन की वास्तविकता के रू-ब-रू कर दिया था। रूसी स्त्रियों का घरेलू जीवन बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गया था और उन्हें देश के आर्थिक जीवन के भँवर में घसीट लिया गया था। मज़दूर औरतें युद्ध में गये अपने पतियों की जगह मशीनों पर काम कर रही थीं। जबकि किसान औरतें खेत में हल चला रही थीं (युद्ध के लिए उनके पति और घोड़े अक्सर बलात् भरती कर लिये जाते थे)।

1916-17 की सर्दियों के दिन बहुत विकट थे। खाद्य पदार्थों के दाम तेज़ी के साथ आसमान छूने लगे। खाने-पीने की चीज़ों की किल्लत थी और दूकानों पर लम्बी क़तारें लगी रहतीं।

फ़रवरी 1917 के अन्त में "युद्ध मुर्दाबाद", "राजशाही मुर्दाबाद" के नारे के साथ पेत्रोग्राद और मास्को की तमाम बड़ी फ़ैक्टरियों में एक के बाद एक हड़तालें होती गयीं। इस आन्दोलन का मार्गदर्शन बोल्शेविक कर रहे थे। स्त्री मज़दूरों ने, जिनकी तादाद फ़ैक्टरियों में काफ़ी बढ़ गयी थी और जिनके कन्धों पर अपने परिवारों के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी आ पड़ी थी, इस आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। स्त्रियों का आन्दोलन स्वत:स्फूर्त ढंग से शुरू हो गया। अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस ने उन्हें संगठन के कुछ बुनियादी तत्वों से परिचित करा दिया था और वे स्त्रियाँ "रोटी और अमन", तथा "हमारे पतियों को मोर्चे से वापस लाओ" के नारे के साथ सड़कों पर उतर पड़ीं।

फ़रवरी क्रान्ति के पहले दिन अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस का संयोगवश होना कोई बड़ी घटना नहीं थी। युद्ध के पहले ही इस दिन की सांगठनिक और शैक्षणिक अहमियत स्पष्ट हो चुकी थी। युद्ध के भी पहले स्त्री मज़दूर यह समझने लगी थीं कि वे समग्रता में मेहनतकश वर्ग के आन्दोलन में भाग लेकर ही मुक्ति पा सकती हैं। युद्ध के दौरान देश के आर्थिक जीवन में औरतों की भूमिका बढ़ जाने के साथ महिला आन्दोलन उच्चतर मंज़िल में पहुँच गया।

23 फ़रवरी को पेत्रोग्राद में पुरानी सरकार ने औरतों को अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाने से रोकने की कोशिश की। इससे पुतिलोव कारख़ाने में विवाद खड़ा हो गया जो बढ़कर विरोध प्रदर्शन और क्रान्ति में तब्दील हो गया। इस प्रकार जीवन की भीषण परिस्थितियों से जन्मे एक स्वत:स्फूर्त आन्दोलन ने अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस में अपना सांगठनिक आधार हासिल किया – जो बोल्शेविकों के पार्टीकार्य की शृंखला की एक कड़ी था।

लेनिन अप्रैल में आये और बोल्शेविक शक्तियों को एकजुट करने, संगठित करने, उन्हें कार्य बाँटने, तथा आने वाली लड़ाइयों के लिए उन्हें प्रशिक्षित करने के काम ने लम्बे डग भरे। समोइलोवा जो उन दिनों पेत्रोग्राद में थीं, लेनिनवादी बोल्शेविक क़तारों के साथ अपनी समस्त स्वाभविक ऊर्जा और उत्साह से काम करने लगीं। वह महिला कार्यकर्ताओं के बीच चल रहे आन्दोलन का वर्णन इन शब्दों में करती हैं : "शुरू में हमारे पास अगुवा स्त्री मज़दूरों का एक छोटा-सा समूह था जो 1913-14 में 'वूमन वर्कर' के पहले प्रकाशन के समय से ही उसके इर्दगिर्द इकट्ठा हो गया था।"

उसके बाद वह स्त्री मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा के लिए युद्ध के क्रान्तिकारी प्रभाव के बारे में प्रचार करती हैं। यह 23 फ़रवरी, 1917 की एक ऐसी स्वत:स्फूर्त कार्रवाई थी, जिसने सैनिकों के दिलों में घर कर लिया और उन्होंने लोगों पर, जो बग़ावत करने के लिए उठ खड़े हुए थे, गोलियाँ चलाने की जगह अपनी संगीनों का मुँह ज़ारशाही राजतन्त्र की ओर मोड़ दिया और तीन दिनों के भीतर ज़ारशाही के सड़े-गले तख़्तेताज को नेस्तनाबूद कर दिया। फ़रवरी क्रान्ति ने स्त्री मज़दूरों के मन में संगठन के प्रति गहरी दिलचस्पी जगायी। वे पार्टी का सदस्य बनने के लिए लालायित हो पार्टी में आने लगीं और उसमें से कई ट्रेड यूनियनों में शामिल हो गयीं।

लेनिन ने जब 21 अप्रैल, 1917 की कार्रवाई को "दुश्मन की स्थिति की टोह लेने" के रूप में निरूपित किया तब उनका यह मानना था कि क्रान्ति के पहले चरण से दूसरे चरण में संक्रमण के दौरान कार्रवाई के लिए उपयुक्त नारा "क्रान्ति के दूसरे चरण में जीत के लिए तैयार रहो" ही होगा।

और अचानक आज़ाद देश धोबिनों की आर्थिक हड़ताल से भौंचक्का रह गया – यह स्त्री मज़दूरों की क़तार में भी सबसे पिछड़ा तबक़ा था। लेकिन यह हैरत तब और बढ गयी जब पता चला कि उन्होंने जो माँगें रखी हैं उनमें लॉण्ड्रियों के राष्ट्रीयकरण और उनको स्थानीय दुमा (नगरपालिकाओं) के हवाले करने की माँग पहली माँग है। यह माँग पूँजीवादी सरकार में मज़दूर वर्ग के हितों के "प्रतिनिधि" श्रम मन्त्री सामाजिक-जनवादी ग्वोज़्देव के सामने तौरिदा पैलेस (अन्तरिम सरकार के मुख्यालय) में रखी गयी।

लेकिन मज़दूर वर्ग के हितों के "संरक्षक" ने इन माँगों को "अपरिपक्व" बताया।

पेत्रोग्राद की स्त्री मज़दूरों में, जो "तौरिदा पैलेस पर बारीक़ी से नज़र रख रही थीं" और जो वहाँ बैठे अपने "संरक्षकों" की राय से सहमत नहीं थीं, क्रान्तिकारी भावना के बढ़ने से लॉण्ड्री हड़ताल को समर्थन मिला। मज़दूर औरतों ने लिखा कि "अप्रैल 21 का अन्त असन्तोषजनक रहा" लेकिन इसने हमारी आँखें खोल दीं। पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ भरी नफ़रत और बढ़ गयी और मेंशेविकों और समाजवादी क्रान्तिकारियों से भरोसा उठ गया।"

स्त्री मज़दूरों में बढ़ती क्रान्तिकारी भावना उर्जस्वी अक्टूबर क्रान्ति के महान संगठनकर्ता की नज़रों से छिपी नहीं रही, बोल्शेविक केन्द्रीय कमेटी के फ़ैसले के अनुरूप 'वूमन वर्कर' का पुनर्प्रकाशन (10 मई) शुरू किया गया और इस पत्रिका ने पेत्रोग्राद की स्त्री मज़दूरों के बेहतरीन तत्वों को अपने इर्दगिर्द फ़ौरन एकजुट कर लिया।

सम्पादकीय मण्डल में क्रुप्सकाया, इनेस्सां अरमां, स्ताल, कोल्लोन्ताई, एलिज़ारोवा, कुदेली, समोइलोवा, निकोलेयेवा और पेत्रोग्राद की बहुत-सी मज़दूर स्त्रियाँ शामिल थीं।

'वूमन वर्कर' के सम्पादकों ने अपने इर्दगिर्द स्त्री मज़दूरों को एकजुट किया, सभाओं के ज़रिये व्यापक आन्दोलनात्मक काम किये, युद्ध के ख़िलाफ़, बढ़ी क़ीमतों के ख़िलाफ़ परचे बाँटे।

चिनीजेली सर्कस में जून में आयोजित सभा ने विशेष रूप से युद्ध के ख़िलाफ़ एक बड़ी भूमिका निभायी। जिस समय मोर्चे पर युद्ध अपने चरम पर था, जंग के ख़िलाफ़ यह अन्तरराष्ट्रीय सभा थी, जिसके विरोध में केरेंस्की और समूचे पूँजीवादी प्रेस ने ज़बरदस्त मुहिम चला रखी थी। सभा में इतनी बड़ी तादाद में मज़दूर शामिल हुए कि वहाँ पहुँचने वाले सभी स्त्री-पुरुष इमारत में समा न सके। यह तख़्ता पलटने के लिए की गयी सभा थी, जिसमें समोइलोवा ने भाषण दिया। इस सभा ने पूँजीवादी अख़बारों को बहुत क्षुब्ध किया।

'वूमन वर्कर' के सम्पादकों ने कारख़ानों में भी काफ़ी सांगठनिक काम किये। समोइलोवा और निकोलेयेवा इस काम में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही थीं। हर फ़ैक्टरी ने 'वूमन वर्कर' के सम्पादकीय मण्डल में अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर रखे थे। हर सप्ताह यह अकेली "सोवियत" एकत्र होती थी और विभिन्न इलाक़ों की रिपोर्टों पर चर्चा करती थी। इस तरह सम्पादक मण्डल फ़ैक्टरियों में चल रही हर चीज़ के बारे में जानता था और पेत्रोग्राद के सर्वहारा के बीच उठ रही क्रान्तिकारी लहर को पहचान सकता था।

क्रान्ति अपने क्रान्तिकारी रूप खुद पैदा करती है और कारख़ानों की ये महिला प्रतिनिधि भावी महिला संगठनकर्ताओं का आदि रूप थीं, जिन्हें मज़दूर स्त्रियों के बीच काम करने के लिए कारख़ाना सेल द्वारा नियुक्त किया गया।

1917 के "जुलाई दिनों" में, जब 'प्रावदा' के कार्यालयों को ध्वस्त कर दिया गया था, 'वूमन वर्कर' ने अपने जुलाई अंक में बोल्शेविक केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों के लेख प्रकाशित किये। इन लेखों में मज़दूरों को "जुलाई दिनों" का आशय समझाया गया था और उस रास्ते के बारे में इंगित किया गया था जिसे भविष्य में अपनाया जाना था। उसके बाद सरकार ने 'वूमन वर्कर' पर भी दमन का पाटा चलाने का फ़ैसला किया। अंक निकलने के दूसरे दिन जब केरेंस्की की पुलिस सम्पादकीय कार्यालय पर पहुँची तो वहाँ कोई भी नहीं था। मज़दूर औरतें रात ही में अख़बार की प्रतियाँ फ़ैक्टरियों में उठा ले गयी थीं।

यह सच है कि बोल्शेविक प्रेस के दमन के बाद बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ जो उन्मादी अभियान चलाया गया उसने स्त्री मज़दूरों के आन्दोलन में कुछ दुविधा पैदा कर दी। उनमें से कुछ तो बोल्शेविक विरोधी अख़बारों के उस कुत्सा प्रचार से भी प्रभावित होती जान पड़ीं जिसमें लेनिन पर जर्मन जासूस होने का आरोप लगाया गया था।

अपने एक परचे में समोइलोवा ने कटुता से (और साथ ही साथ इस बात पर ज़ोर देते हुए कि हमें आलोचनाओं और ग़लतियों के सामने आने से नहीं डरना चाहिए) कहा कि "जुलाई दिनों" के बाद कुछ स्त्री मज़दूर जो बोल्शेविक पार्टी में पहले ही शामिल हो चुकी थीं, डाँवाडोल होने लगीं। उनमें से एक-दो ने 'वूमन वर्कर' के कार्यालय में आकर यह कहते हुए अपने पार्टी कार्ड फेंक दिये कि "वे जर्मन जासूसों की पार्टी में नहीं बने रहना चाहतीं।"

लेकिन इन उतारों-चढ़ावों ने समोइलोवा और निकोलेयेवा को अपने सांगठनिक, आन्दोलनात्मक और प्रचारात्मक कार्यों को और तेज़ करने की प्रेरणा दी।

(अगले अंक में जारी)

एक गीत

तस्वीर बदल दो दुनिया की

तोड़ो ये दीवारें, भर दो अब ये गहरी खाई
जागो दुखियारे इन्सानो
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की

चलती मशीनें ये तेरे ही हाथों से
उगती हैं फ़सलें ये तेरे ही हाथों से
क्यों फिर ले जाते हैं – जुल्मी जोंक तुम्हारी कमाई
उठ जाओ मज़दूरो और किसानो
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की

ये चौबारे महल उठाये हैं तूने
सुख के सब सामान जुटाये हैं तूने
फिर क्यों बच्चों ने तेरे – हर दम आधी रोटी खायी
उठ जाओ मज़लूमो और जवानो
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की

जुल्मों की क़ब्रें तेरे ही हाथ खुदेंगी
तेरे ही हाथों नयी दुनिया बनेगी
मत ये समझो तूने – जीवन की सब पूँजी गँवायी
जागो दुखियारे इन्सानो
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की
तस्वीर बदल दो दुनिया की

– शशि प्रकाश

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की कविता

हम राज करें, तुम राम भजो !

खाने की टेबुल पर जिनके
पकवानों की रेलमपेल
वे पाठ पढ़ाते हैं हमको
'सन्तोष करो, सन्तोष करो!

उनके धन्धों की ख़ातिर
हम पेट काटकर टैक्स भरें
और नसीहत सुनते जायें --
'त्याग करो, भई त्याग करो!'

मोटी-मोटी तोंदों को जो
ठूँस-ठूँसकर भरे हुए
हम भूखों को सीख सिखाते --
'सपने देखो, धीर धरो!'

बेड़ा ग़र्क़ देश का करके
हमको शिक्षा देते हैं --
'तेरे बस की बात नहीं
हम राज करें, तुम राम भजो!'

(इस कविता का मनबहकी लाल ने अपने निराले अन्दाज़ में अनुवाद किया है।)

परिकल्पना प्रकाशन से प्रकाशित 'कहे मनबहकी खरी-खरी' से

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

(पेज 8 से आगे)

में जर्मनी में एक बहुत शक्तिशाली मज़दूर आन्दोलन था जिसने 1919 से लेकर 1931 तक राज्य से मज़दूरों के लिए बहुत से अधिकार हासिल किये। जर्मनी में मज़दूरों की मज़दूरी किसी भी यूरोपीय देश से अधिक थी। कुल राष्ट्रीय उत्पाद में मज़दूर वर्ग का हिस्सा यूरोप के किसी भी देश के मज़दूर वर्ग के हिस्से से अधिक था। लेकिन इससे आगे सामाजिक जनवाद और कोई बात नहीं करता था। वह इसी यथास्थिति को बरकरार रखना चाहता था और इसलिए मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को सुधारवादी संसदवाद और अर्थवाद की अन्धी चक्करदार गलियों में घुमाता रहा। लेकिन दूसरी तरफ़ जर्मनी का पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को मिली इन रियायतों और सुविधाओं को बर्दाश्त करने की ताक़त खोता जा रहा था, क्योंकि इसके कारण पूँजी संचय की उसकी रफ़्तार बेहद कम हो गयी थी, यहाँ तक कि ठहर गयी थी। इसके कारण विश्व स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा में उसका टिक पाना बेहद मुश्किल हो गया था। 1928 आते-आते जर्मनी संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद सबसे अधिक औद्योगिक उत्पादन वाला देश बन चुका था और उत्पादकता की रफ़्तार भी अमेरिका के बाद सबसे अधिक थी। इसके साथ ही जर्मनी की विश्व स्तर पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा भी अधिक से अधिक तीखी होती जा रही थी। लेकिन घरेलू पैमाने पर मज़दूर वर्ग के शक्तिशाली सुधारवादी आन्दोलन के कारण उसके मुनाफ़े की दर लगातार कम होती जा रही थी, जिसे इतिहासकारों ने लाभ संकुचन ("प्रॉफ़िट स्क्वीज़") का नाम दिया है। ठीक इसी समय, विश्वव्यापी महामन्दी का प्रभाव जर्मनी की अर्थव्यवस्था पर पड़ा। लाभ संकुचन की मार से बिलबिलाये हुए जर्मन पूँजीपति वर्ग के लिए यह बहुत त्रासद था! इसके कारण सबसे पहले छोटा पूँजीपति वर्ग तबाह होना शुरू हुआ। बड़े पूँजीपति वर्ग को भी भारी हानि उठानी पड़ी। बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी बढ़ी। शहरी वेतनभोगी निम्न मध्यम वर्ग में भी बेकारी द्रुत गति से बढ़ने लगी। जो काम कर भी रहे थे उनके सिर पर हर समय छँटनी की तलवार लटक रही थी। इस पूरे असुरक्षा के माहौल ने निम्न पूँजीपति वर्ग, सरकारी वेतनभोगी मध्यवर्ग, दुकानदारों, शहरी बेरोज़गारों के एक हिस्से के भीतर प्रतिक्रिया की ज़मीन तैयार की। यही वह ज़मीन थी जिसे भुनाकर राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मज़दूर पार्टी (हिटलर की नात्सी पार्टी) ने एक प्रतिक्रियावादी जन आन्दोलन खड़ा किया जिसकी अग्रिम क़तारों में निम्न पूँजीपति वर्ग, वेतनभोगी मध्यम वर्ग, शहरी पढ़ा-लिखा मध्यम वर्ग, लम्पट सर्वहारा और यहाँ तक कि सर्वहारा वर्ग का भी एक हिस्सा खड़ा था।

इस असुरक्षा के माहौल के पैदा होने पर एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का काम था पूरी पूँजीवादी व्यवस्था को बेनक़ाब करके जनता को यह बताना कि पूँजीवाद जनता को अन्ततः यही दे सकता है – ग़रीबी, बेरोज़गारी, असुरक्षा, भुखमरी! इसका इलाज सुधारवाद के ज़रिये चन्द पैबन्द हासिल करके, अर्थवाद के ज़रिये कुछ भत्ते बढ़वाकर और संसदबाज़ी से नहीं हो सकता। इसका एक ही इलाज है मज़दूर वर्ग की पार्टी के नेतृत्व में, मज़दूर वर्ग की विचारधारा की रोशनी में, मज़दूर वर्ग की मज़दूर क्रान्ति। लेकिन सामाजिक जनवादियों ने पूरे मज़दूर वर्ग को गुमराह किये रखा और अन्त तक, हिटलर के सत्ता में आने तक, वह सिर्फ़ नात्सी-विरोधी संसदीय गठबन्धन बनाने में लगे रहे। नतीजा यह हुआ कि हिटलर पूँजीवाद द्वारा पैदा की गयी असुरक्षा के माहौल में जन्मे प्रतिक्रियावाद की लहर पर सवार होकर सत्ता में आया और उसके बाद मज़दूरों, कम्युनिस्टों, ट्रेड यूनियनवादियों और यहूदियों के क़त्ले-आम का जो ताण्डव उसने रचा वह आज भी दिल दहला देता है। सामाजिक जनवादियों की मज़दूर वर्ग के साथ ग़द्दारी के कारण ही जर्मनी में फ़ासीवाद विजयी हो पाया। जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूर वर्ग को संगठित कर पाने और क्रान्ति में आगे बढ़ा पाने में असफल रही। नतीजा था फ़ासीवादी उभार, जो अप्रतिरोध्य न होकर भी अप्रतिरोध्य बन गया।

अगले अंक में हम देखेंगे कि जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय किस प्रकार हुई थी। जर्मनी के उदाहरण से हम फ़ासीवाद के उदय के कारणों को और अधिक स्पष्टता से समझ पायेंगे और उसका सामान्यीकरण कर पायेंगे। उस सामान्यीकरण के नतीजों को फिर हम भारत पर लागू करके समझ सकते हैं कि भारत में फ़ासीवाद की ज़मीन किस प्रकार मौजूद है और भारत में मौजूद फ़ासीवादी उभार का मुक़ाबला यहाँ का क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन किस प्रकार कर सकता है।

(अगले अंक में 'जर्मनी में फ़ासीवाद', 'इटली में फ़ासीवाद' और 'भारत में फ़ासीवाद')

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या SSP/LW-NP/399/2009-11 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि - माह की 13, 14, 15 तारीख़

नेपाली क्रान्ति किस ओर?
नयी परिस्थितियाँ और पुराने सवाल

आलोक रंजन

नेपाल विगत एक माह से भी अधिक समय से अनिश्चय और उथल-पुथल के भँवर से गुज़र रहा है। प्रधानमन्त्री पद से एकीकृत ने.क.पा. (माओवादी) के अध्यक्ष पुष्प कमल दहाल 'प्रचण्ड' के इस्तीफ़े (4 मई '09) के बाद से ही देशव्यापी बन्द, हड़तालों और प्रदर्शनों के चलते शासन और प्रशासन की मशीनरी लगभग ठप्प है।

संकट की शुरुआत तब हुई जब जनता द्वारा चुनी गयी नागरिक सरकार की निरन्तर और जानबूझकर अवमानना के आरोप में प्रधानमन्त्री प्रचण्ड ने सेनाध्यक्ष कटवाल को बर्खास्त कर दिया। कटवाल ने प्रधानमन्त्री के इस निर्देश को मानने से इनकार कर दिया। राष्ट्रपति रामबरन यादव ने भी प्रचण्ड के निर्देश को ठुकराते हुए और अन्तरिम संविधान की अवहेलना करते हुए कटवाल से पद पर बने रहने को कहा। फिर इस प्रश्न पर सरकार के दो सहयोगी दलों – ने.क.पा. (ए.मा.ले.) मधेसी जनाधिकार मंच ने भी माओवादियों का साथ छोड़ दिया। नतीजतन सरकार अल्पमत में आ गयी और प्रचण्ड को इस्तीफ़ा देना पड़ा। गत 23 मई को 24 में से 21 पार्टियों के समर्थन से माधव कुमार नेपाल के नेतृत्व में नयी सरकार सत्तारूढ़ हुई जिसमें ने.क.पा (ए.मा.ले.) और नेपाली कांग्रेस मुख्य भागीदार हैं। नयी सरकार को समर्थन के मसले पर मधेसी जनाधिकार मंच दोफाड़ हो चुका है। विजय कुमार गच्छेदार गुट सरकार में शामिल है और गच्छेदार एक उपप्रधानमन्त्री हैं जबकि उपेन्द्र यादव के नेतृत्व वाला गुट विपक्ष में है।

एकीकृत ने.क.पा. (माओवादी) का कहना है कि सेना पर नागरिक सरकार का नियन्त्रण हर हाल में निर्णायक तौर पर क़ायम होना चाहिए और राष्ट्रपति को सेनाध्यक्ष कटवाल की बहाली सम्बन्धी अपना असंवैधानिक निर्देश वापस लेना चाहिए। उसका यह भी स्पष्ट आरोप है कि एक बड़ा पड़ोसी देश (स्पष्ट इशारा भारत की ओर है) अपने निहित स्वार्थों और विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओं के चलते नेपाल के अन्दरूनी मामलों में दख़लन्दाज़ी कर रहा है और कटवाल-प्रकरण के पीछे भी उसकी अहम भूमिका है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रचण्ड के नेतृत्व वाली सरकार भारत के साथ तमाम असमानतापूर्ण सन्धियों की समीक्षा और समानता के आधार पर नये सम्बन्ध की माँग करती रही है और भारत पर पारम्परिक निर्भरता को छोड़कर चीन के साथ भी सहकार-सम्बन्ध की इच्छा ज़ाहिर करती रही है। साथ ही, भारत सरकार को यह भय भी सताता रहा है कि नेपाल में माओवादियों की सरकार रहते भारत में भी माओवादियों के सशस्त्र संघर्ष को विशेष बढ़ावा मिलेगा।

लेकिन मुख्य बात यह है कि नेपाल के साथ विगत आधी सदी से भी अधिक समय से जारी असमानतापूर्ण सम्बन्धों को भारतीय शासक वर्ग हर क़ीमत पर बनाये रखना चाहता है। सभी छोटे पड़ोसी देशों के प्रति भारतीय शासक वर्ग का विस्तारवादी और "बड़े भाई" जैसा व्यवहार हमेशा से जगज़ाहिर रहा है और चीन के साथ उसकी प्रतिस्पर्द्धा भी कोई छुपी बात नहीं है। ऐसी स्थिति में नेपाल की नयी सरकार द्वारा समानतापूर्ण सम्बन्धों और सभी पड़ोसियों से (यानी चीन से भी) समान रूप से बेहतर सम्बन्धों की बात करना भारतीय शासक वर्ग भला कैसे पसन्द कर सकता था? काठमाण्डू स्थित भारतीय दूतावास लगातार वहाँ के अन्दरूनी मामलों में दख़ल देता रहा है। अपनी इसी स्थिति को बनाये रखने के लिए भारत सरकार ने लोकयुद्ध और जनान्दोलन के दौरान लगातार राजशाही की भरपूर मदद की। नेपाल के क्रान्तिकारी संघर्ष को कुचलने में उसने अमेरिकी साम्राज्यवाद के विश्वस्त सहयोगी की भूमिका निभायी। लेकिन राजशाही का पतन सुनिश्चित होने और संविधान सभा के चुनाव में ने.क.पा. (माओवादी) के सबसे बड़े दल के रूप में उभरने के बाद भारतीय शासक वर्ग ने नेपाली कांग्रेस और ने.क.पा. (ए.मा.ले.) पर दाँव लगाया और हरचन्द कोशिशें की कि ने.क.पा. (माओवादी) के नेतृत्व में सरकार का गठन न हो सके। उसकी इस भूमिका के चलते नेपाली जनता के भीतर यह धारणा और अधिक मज़बूत हुई है कि भारत एक विस्तारवादी देश है जो हर हाल में सम्प्रभु, स्वतन्त्र, जनवादी नेपाली गणराज्य का विरोध करता रहेगा।

जहाँ तक नेपाल के भीतर वर्ग-शक्ति-सन्तुलन का सवाल है, तमाम आपसी अन्तरविरोधों के बावजूद, वहाँ की क्रान्ति-विरोधी बुर्जुआ और सामन्ती ताक़तें निर्णायक मसलों पर माओवादियों के ख़िलाफ़ एकजुट हैं। सत्तालोलुपता के चलते बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों के बीच जो अन्तरविरोध उठते रहे हैं, उनका लाभ एक हद तक ने.क.पा. (माओवादी) को भी मिलता रहा है। लेकिन जब भी कोई बुनियादी नीतिगत मामला सामने आता है तो माओवादी अपने को एकदम अलग-थलग पाते हैं।

संविधान सभा के चुनावों में सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरने के बावजूद ने.क.पा. (माओवादी) को सत्ता सँभालने की वैध हक़दार ताक़त के रूप में नेपाल के भीतर और बाहर की प्रतिक्रियावादी ताक़तों ने कभी भी स्वीकार नहीं किया। सरकार में शामिल होने के बाद भी ने.क.पा. (ए.मा.ले.) और मधेसी पार्टियों ने आंशिक बुनियादी बदलाव के हर सवाल पर ने.क.पा. (माओवादी) का विरोध किया। शान्ति समझौते और अन्तरिम संविधान की तमाम शर्तों को ताक़ पर रख दिया गया। सेना के एकीकरण की तय शर्तों को ठुकराकर नयी-नयी शर्तें लगायी जाती रहीं। तनाव बढ़ता रहा और फिर इसी की तार्किक परिणति प्रचण्ड सरकार के इस्तीफ़े के रूप में सामने आयी।

नेपाल के घटनाओं ने एक बार फिर इस इतिहाससिद्ध धारणा को ही पुख़्ता किया है कि संसदीय चुनावों में बहुमत पाने के बावजूद मेहनतकश जनसमुदाय राज्य मशीनरी का अपने हितों के अनुरूप पुनर्गठन नहीं कर सकता। वह शासक वर्ग की राज्य मशीनरी का ध्वंस करके ही नयी राज्य मशीनरी की स्थापना कर सकता है। बेशक बुर्जुआ संसदीय चुनावों और संसद का (और यहाँ तक कि अन्तरिम या आरज़ी सरकारों का भी) रणकौशलगत (टैक्टिकल) इस्तेमाल किया जा सकता है, पर इनके द्वारा व्यवस्था परिवर्तन, या एक वर्ग से दूसरे वर्ग के हाथों सत्ता-हस्तान्तरण, नामुमकिन है। बुर्जुआ सत्ता का ध्वंस ही एकमात्र ऐतिहासिक विकल्प है।

ने.क.पा. (माओवादी) की समस्या यह रही है कि वह अपनी तमाम "नयी स्थापनाओं" और गोलमोल, अस्पष्ट, द्विअर्थी वक्तव्यों से राज्य और क्रान्ति के प्रश्न पर स्वयं ही विभ्रम पैदा करती रही है और ढुलमुलपन का परिचय देती रही है। रणनीति (स्ट्रैटेजी) और बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्नों को भी प्राय: वह रणकौशल के रूप में या कूटनीति के रूप में प्रस्तुत करती रही है। सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत पेरिस कम्यून और सोवियतों जैसी किसी ग्रासरूट स्तर की सर्वहारा जनवादी प्रणाली के बजाय वह बहुदलीय संसदीय प्रणाली की बात करती रही है और जनता में इस विभ्रममूलक धारणा को पुख़्ता बनाती रही है कि मौजूदा संविधान सभा के ज़रिये और इसके द्वारा निर्मित संविधान के अन्तर्गत होने वाले चुनाव में जीतकर वह नेपाल में लोक जनवादी गणराज्य और फिर समाजवादी गणराज्य की स्थापना कर सकती है। ने.क.पा. (माओवादी) हालाँकि बीच-बीच में 'नरो वा कुंजरो' की भाषा में जनसंघर्ष की बात भी करती रहती है, पर उसकी कुल बातों का मुख्य ज़ोर संसदीय रास्ते पर ही पड़ता है। चुनाव जीतकर सत्तासीन होने और क्रान्तिकारी अर्थों में सत्ता कब्ज़ा करने के बीच के फ़र्क़ को ने.क.पा. (माओवादी) के नेतृत्व ने स्वयं ही अपनी कथनी और करनी से जनता की नज़रों में काफ़ी धूमिल कर दिया है। इस तरह उसने जनता और पार्टी क़तारों की वर्ग संघर्ष की तैयारी की प्रक्रिया को स्वयं ही कमज़ोर कर दिया है।

प्रचण्ड सरकार के इस्तीफ़े के बाद नेपाली क्रान्ति के नेतृत्व के सामने एक कठिन चुनौतीपूर्ण लेकिन साथ ही सुनहरा अवसर आया था कि वह बुर्जुआ संसदीय विभ्रमों को तार-तार करते हुए जनता के बीच यह सन्देश लेकर जाये कि केवल जनसंघर्ष ही एकमात्र रास्ता है। एक बार फिर सुदूरवर्ती ग्रामीण अंचलों में आधार इलाक़ों को मजबूत बनाने और शहरी क्षेत्रों में हड़तालों-प्रदर्शनों-जनान्दोलनों के सिलसिले को मजबूत बनाने का अवसर था। शान्ति समझौते और अन्तरिम संविधान के विपक्षी दलों द्वारा कई मामलों में उल्लंघन के बाद संघर्ष के रास्ते को न्यायोचित ठहराने का तर्क भी था। होना यह चाहिए था कि प्रचण्ड सरकार के इस्तीफ़े के बाद सभी माओवादी सांसदों को भी इस्तीफ़ा देकर सड़क के संघर्ष में उतर पड़ना चाहिए था। पर ऐसा नहीं हुआ। इसका मूल कारण यह है कि पार्टी भी अब शायद इसके लिए पूरी तरह तैयार नहीं है और जनता को भी उसने इसके लिए तैयार नहीं किया है। सेना एकीकरण की शर्त को मानने के बाद (इस पर 'बिगुल' में हम अपनी शंका रख चुके हैं) जन सेना का बड़ा हिस्सा कैण्टोनमेण्ट में निश्शस्त्र बैठा है। बाहर युवा कम्युनिस्ट लीग और स्वयंसेवक दस्तों की ताक़त है, पर वह सशस्त्र संघर्ष को आगे बढ़ाने की स्थिति में नहीं है। पुराने आधार इलाक़ों की समानान्तर लोकसत्ता मज़बूत होने के बजाय विगत दो वर्षों के दौरान कमज़ोर हुई है। पार्टी नेतृत्व अपना ध्यान समानान्तर लोकसत्ता को मज़बूत बनाने और बुर्जुआ संसदीय प्रणाली के 'एक्सपोज़र' के बजाय, सरकार चलाने पर और विभिन्न "लोक कल्याणकारी" कार्यों पर केन्द्रित किये रहा है। पार्टी नेतृत्व का एक हिस्सा यह कहता रहा है कि मौजूदा संविधान सभा एक लोक जनवादी संविधान का निर्माण नहीं कर सकती, इसलिए हमारी कोशिश एक ज़्यादा से ज़्यादा जनोन्मुख संविधान बनाने की ही हो सकती है। लेकिन सवाल यह है कि जब अधिकांश बुनियादी मसलों पर सभी बुर्जुआ और संशोधनवादी एकजुट हो जाते हैं, तो सबसे बड़ी पार्टी होने के बावजूद ने.क.पा. (माओवादी) भला अंशत: जनोन्मुख संविधान स्वीकृत करवा पाने में भी सफल कैसे हो सकती है! यह तर्क दिया जा सकता है कि संविधान में बुर्जुआ जनवादी प्रावधानों का दायरा विस्तारित होने की स्थिति जनसंघर्ष के लिए अनुकूल होगी। लेकिन यह तर्क एक वैधिक विभ्रम है। नेपाल का शासक वर्ग आज जिस संकट से गुज़र रहा है, उसमें वह बुर्जुआ जनवाद के दायरे को वास्तव में विस्तारित नहीं होने देगा और यदि संविधान में ऐसे प्रावधान हों भी तो व्यवहार में इनका कोई मतलब नहीं रह जायेगा। दूसरी बात यह कि नेपाल में वर्ग संघर्ष जिस मंज़िल पर पहुँच चुका है, उस मुक़ाम पर यह प्रश्न काफ़ी हद तक अप्रासंगिक है कि वहाँ बुर्जुआ जनवाद का दायरा कितना विस्तारित या संकुचित होगा। आज यदि नेपाल में बुर्जुआ जनवाद के दायरे को फैलाने के संघर्ष पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है तो यह भी एक सामाजिक जनवादी भटकाव होगा।

ताज़ा समाचारों के अनुसार, ने.क.पा. (माओवादी) और संशोधनवादी ने.क.पा. (ए.मा.ले.) के बीच समझौता वार्ता सफल होने के क़रीब है। माओवादियों ने आश्वासन दिया है कि सेना पर नागरिक सरकार के नियन्त्रण की गारण्टी और कटवाल प्रकरण में राष्ट्रपति के असंवैधानिक निर्देश के निरस्त होने की स्थिति में वे जनान्दोलन स्थगित करने और संसद में विपक्ष के रूप में बैठकर माधव कुमार नेपाल की सरकार के साथ सहयोग करने तथा संविधान-निर्माण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए तैयार हैं। ज़्यादा उम्मीद यही है कि जल्दी ही कोई समझौता- फ़ार्मूला निकल आयेगा। यानी ने.क.पा. (माओवादी) के नेतृत्व में चलने वाले जनान्दोलन का लक्ष्य क्रान्तिकारी संघर्ष को आगे बढ़ाना नहीं, बल्कि सापेक्षत: अधिक अनुकूल समझौते के लिए दबाव बनाना मात्र था! ऐसे में यह आशंका उठनी स्वाभाविक है कि क्या ने.क.पा. (माओवादी) विचारधारात्मक विभ्रमों, ढुलमुलपन और संसदीय भटकाव के भँवर में उलझकर वर्ग संघर्ष के रास्ते पर आगे बढ़ने की उर्जस्विता और शक्ति खो चुकी है? क्या वह निर्णायक तौर पर संसदीय पक्ष-विपक्ष के खेल में शामिल हो चुकी है? इन प्रश्नों के उत्तर अभी भविष्य के गर्भ में हैं।

लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ने.क.पा. (माओवादी) के नेतृत्व में फ़िलहाल दक्षिणपन्थी अवसरवाद का पर्याप्त प्रभाव है, जो पार्टी को लगातार विपथगमन की दिशा में धकेल रहा है। इसका विरोध करने वाली जो धारा है, उसमें भी विचारधारात्मक सुस्पष्टता और सुसंगति की कमी है, जिसके चलते इस धारा से जुड़े लोग भी निर्णायक स्टैण्ड लेने और प्रतिकूल लहर के विरुद्ध डटकर खड़ा होने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। नेपाल की मेहनतकश जनता आज भी एकीकृत ने.क.पा. (माओवादी) को ही अपना नेता और हरावल मानती है। तमाम दक्षिणपन्थी भटकावों की निरन्तरता के बावजूद, इस पार्टी को अभी संशोधनवादी क़तई नहीं कहा जा सकता। बुनियादी मुद्दों पर स्पष्टता की कमी के बावजूद पार्टी में दो लाइनों का संघर्ष अभी भी कई स्तरों पर जारी है और क़तारों का क्रान्तिकारी जुझारूपन अभी भी क़ायम है।

इस स्थिति में विश्व सर्वहारा क्रान्ति और नेपाली क्रान्ति के हर समर्थक- शुभचिन्तक की, स्वाभाविक तौर पर यही कामना है कि एकीकृत ने.क.पा. (माओवादी) तमाम संसदीय विभ्रमों और दक्षिणपन्थी विचलनों से मुक्त होकर नेपाल की मेहनतकश जनता के सच्चे क्रान्तिकारी नेता और हरावल दस्ते की भूमिका निभाये। हम नेपाल की कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी क़तारों का आह्वान करते हैं कि वे संशोधनवादी भटकाव की हर क़िस्म को जड़मूल से नष्ट कर दें क्योंकि यही सर्वहारा क्रान्ति की प्रथम और सर्वोपरि गारण्टी है।

•

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग: कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डा. दूधनाथ, सुखविन्दर** • सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 020** • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ